अनुभव-प्रकाश

लेखक

लालजीराम शुक्ल

मनोविज्ञान अध्यापक, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज,

काशी विश्वविद्यालय

..कशोर एण्ड ब्रादर्स

बनारस

..थमवार १०००] १९४८ [मूल्य ३)

श्री

मानसिक चिकित्सक डा० दुर्गाशंकर जी नागर

को

सादर समर्पित

वक्तव्य

आधुनिक काल में मनोविज्ञान के अध्ययन की ओर सभी विद्वानों की प्रवृत्ति हो रही है। मनोविज्ञान ने शिक्षा, व्यवसाय, राजनीति, चिकित्सा आदि क्षेत्रों में प्रवेश तो किया ही है, उसने साहित्य के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रवेश कर लिया है। जो लेख मनोवैज्ञानिक ढंग से लिखा जाता है उसका मान विद्वानों में होता है। ऐसे लेख बहुत उपयोगी होते हैं। हमारे देश के साहित्य में इस प्रकार के लेखों की कमी है। इसी कमी की पूर्ति के हेतु प्रस्तुत लेख लिखे गए हैं।

मनोवैज्ञानिक लेख लिखने का सर्व प्रथम प्रयास स्वर्गीय श्री राम चन्द्र शुक्ल जी ने किया था। उनके क्रोध, लज्जा ग्लानि, प्रेम और श्रद्धा, साहस आदि मनोवैज्ञानिक विषयों पर लेख एक ओर साहित्यक हैं और दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक। इन लेखों को पढ़ कर ही मेरे मन में उसी प्रकार के मनोवैज्ञानिक लेख लिखने का पहले पहल विचार आया। पर मेरा विचार-क्षेत्र श्री रामचन्द्र शुक्लजी के विचार-क्षेत्र से भिन्न होने के कारण इन लेखों ने साहित्यक रूप धारण न कर मनोवैज्ञानिक रूप ही धारण किया।

इन लेखों के संग्रह का नाम 'अनुभव-प्रकाश' रखा गया है। इस का कारण यह है कि इन लेखों का आधार मेरा व्यक्तिगत अनुभव है। मनोविज्ञान प्रयोगात्मक विज्ञान है और इसकी प्रयोग शाला अपने आप का अनुभव ही है। यह अनुभव दो प्रकार का होता है—एक बाह्य विषयों का और दूसरा आन्तरिक भावों का। मनोविज्ञान में अभी तक बहिर्मुखी दृष्टि ही बनी रही है, अतएव आन्तरिक भावों के अनुभव को उतना महत्व नहीं दिया जाता जितना बाहरी विषयों के अनुभव को दिया जाता है। पर अब इस दृष्टिकोण में धीरे धीरे परिवर्तन होता जा रहा है। प्रस्तुत लेख इस बदलते हुए दृष्टिकोण के अनुसार लिखे गये।

इन लेखों के प्रकाशन का हेतु पाठकों को आत्म-बोध कराने और अपनी मानसिक ग्रन्थियों को सुलझाने में सहायता पहुँचाना है। इन

विचारों से मुझे लाभ हुआ है और मेरा विश्वास है कि दूसरे लोगों को भी उनसे लाभ होगा। पहले पहल ये लेख आत्म-शिक्षा अथवा स्वान्तः सुखाय ही लिखे गये थे। यदि इनसे संसार लाभ हो तो प्रसन्नता की बात होगी।

कुछ पश्चमी विद्वानों के विचार मुझे बहुत ही अच्छे लगे। उन्हें मैंने अपने अनुभव में सत्य पाया, अतएव हिन्दी भाषा भाषियों की सेवा हेतु उन विचारों को मैंने अपने ढंग से इन लेखों में प्रस्तुत किया है। 'मानसिक स्वतन्त्रता', गोल्डस्मिथ के 'इन्डपेन्डेन्स' नामक लेख के आधार पर, 'प्रतिकार' जान्सन के 'रिवेन्ज' नामक लेख के आधार पर और 'समीकरण की व्यापकता' इमरसन के 'कमपेन्सेशन' नामक लेखों के आधार पर लिखे गये हैं। ये लेख एक प्रकार से उक्त विद्वानों के लेखों के भारतीय संस्करण है। उक्त विद्वानों के विचार मनन योग्य है। अतएव मैंने उनके मूल विचारों को अपने ही ढंग से पाठकों के समक्ष रखा है। मेरा विश्वास कि विद्वत मंडली मेरे इस प्रयास को अपना-वेगी। मेरा विचार है कि मातृभाषा हिन्दी का भंडार जिस प्रकार ही भले विचारों से भरा जाय उतना ही अच्छा है। भले विचार किसी व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं, वे विश्वात्मा से आते हैं; जो व्यक्ति उनका स्वागत करता है और उनका मनन करके उन्हें अपनाता है, वे उसी के हैं।

अन्त में मैं उन सभी महानुभावों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करता हूँ जिन्होंने इस लेख माला के प्रकाशित करने में मुझे सहायता दी। आज के सहायक संपादक श्री रामचन्द्र वापट नरहरि जी का मैं विशेष रूप से अभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक का प्रूफ देखा और जगह जगह पर भाषा को संशोधित किया।

टीचर्स ट्रेनिंग कालेज
काशी विश्वविद्यालय
११ जनवरी, १९४८

लालजीराम शुक्ल

विषय-सूची

अनुभव-प्रकाश

१

स्वतन्त्र-चिन्तन

मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है। चिन्तन करना उसका स्वभाव है और धर्म भी। सांसारिक लोग सांसारिक बातों का चिन्तन करते हैं। संसार के विषयों का चिन्तन मनुष्य का उन विषयों से परिचय बढ़ाता है और उन्हें सांसारिक कार्यों में सफल होनेमें सहायक होता है, आध्यात्मिक चिन्तन परमार्थका साधन है। जो मनुष्य अपने आप चिन्तन करना छोड़ देता है वह न सांसारिक जीवन कुशलतासे व्यतीत कर सकता है और न सत्य की ही प्राप्ति कर सकता है।

सर्वोच्च चिन्तन का ध्येय आत्म-ज्ञान प्राप्त करना रहता है। प्रत्येक मनुष्य चिन्तन से ही आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। भौतिक विज्ञान में किसी तत्त्व की बार-बार मनुष्यको खोज नहीं करनी पढ़ती। यदि एक मनुष्य ने एक बार किसी सिद्धान्त को खोज लिया तो दूसरे लोग उसकी इस खोजसे सुगमता से लाभ उठाते हैं। ऐसी बात आध्यात्मिक विषय की खोज में लागू नहीं होती। प्रत्येक मनुष्य को अपने लिए आध्यात्मिक सत्य को अपने आप खोजना पड़ता है, दूसरे मनुष्यका प्रयत्न हमें केवल पथ-प्रदर्शन कर सकता है। सत्य के दर्शन नहीं करा सकता। जो मनुष्य चिन्तन के

परिश्रम से बचना चाहते हैं, उन्हें सत्यके दर्शन कदापि नहीं हो सकते। ※

जो वस्तु मनुष्य अपने प्रयत्न से प्राप्त करता है उसके प्रति उसका प्रेम होता है। कठिन परिश्रम से प्राप्त की हुई वस्तु का मनुष्य भलीभाँति संग्रह करता है, उसे सुरक्षित रखता है और नष्ट होने से बचाने की चेष्टा करता है। जो मनुष्य अपने कठिन परिश्रम से केवल किसी एक सत्य की खोज कर लेता है तो वह उसकी भारी कीमत करता है। वास्तव में ऐसा ही अपना खोया हुआ सत्य हमें काम देता है। दूसरों के विचार दूसरों के ही होते हैं। उन विचारों को रट लेनेसे वे हमारे नहीं बन जायेंगे। हमारे विचार तो वे ही हैं जो हम अपने अनुभव के मन्थन से निकालते हैं। दूसरों के विचार हमारे उसी दशा में हो सकते हैं जब हम भली प्रकार से उसका मनन करें। बहुत से लोग दूसरे लोगोंके विचार अपने मस्तिष्क में ठूँसते जाते हैं। इस प्रकारके विचार ठूँस लेनेसे उन्हें दिमागी बदहजमी हो जाती है। इस तरह पोथी पढ़ कर पठित मूर्खों कीही संख्या बढ़ती है। वास्तव में जिस विचारके ऊपर हम चिन्तन नहीं करते वह हमारी प्रतिभा न जगा कर उसका विनाश करता है। मनुष्य का मस्तिष्क एक स्प्रिङ्गके समान है। यदि उसके ऊपर कोई भारी बोझ देर तक रख दिया जाय, तो उसका सब लचीलापन जाता रहता है। अधिक पुस्तक पढ़नेवाले व्यक्ति का दिमाग उस श्याम पट के

※ कबीर ने निम्नांकित दोहे में इस सत्यकी ओर संकेत किया है :—

जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ।
हौं बौरी ढूँढ़न गई रही किनारे बैठ॥

समान है, जिसके ऊपर बार-बार बिना उसे साफ किये हुए लिखा जाता है। जिस प्रकार कुछ काल के बाद उस पट पर इधर-उधर ऊटपटांग लकीरों के सिवाय और कुछ नहीं दिखाई देता, उसी तरह पोथी पण्डित के दिमाग में कुछ भी स्पष्ट नहीं रहता।

विरला ही मनुष्य स्वयं चिन्तन करता है। संसार के कितने लोग हैं जो विद्वानों का सम्मान तो प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु जिनमें उसकी वास्तविक योग्यता नहीं रहती। ऐसे लोग बहुत सी पुस्तकें पढ़ लेते हैं, वे इस तरह स्वयं के परिश्रम से बच कर सरलता से ज्ञानी बनना चाहते हैं, किन्तु यह निरी मूर्खता है। यह बात सत्य है कि जिस निष्कर्ष पर हम कई दिनोंके चिन्तनसे पहुँचते हैं वही सत्य एक साधारण सी पुस्तक में पाया जा सकता है; किन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि हमारे परिश्रम से प्राप्त किया हुआ सत्य ही हमारा होता है और इसी का हम अभिमान कर सकते हैं। जो विचार हम अपने परिश्रम से उपलब्ध करते हैं वह हमारे स्वभावका अङ्ग बन जाता है। ऐसा विचार हमारे मनकी प्रत्येक तहमें अपना घर कर लेता है; अतएव जब हम कठिनाई में पड़ते हैं तो वह हमारी सहायता करता है और हमारे मनको ढाढ़स देता है। अपना विचार चाहे वह कैसी ही भाषा में क्यों न हो, दूसरे लोगों की सुन्दर से सुन्दर भाषामें लिखे गये विचारोंसे अच्छा ही है। जिस प्रकार मनुष्य को प्राकृतिक नाक ही उसे शोभा देती है और कृत्रिम नाक अथवा दूसरेकी नाक उसे कदापि शोभा नहीं दे सकती, उसी प्रकार हमारे ही विचार हमको शोभा देते हैं, चाहे उसमें कितनी ही कमी क्यों न हो।

जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् शोपनहावर महाशय का कथन है कि मनुष्य को अपने विचारों का अपनी सन्तान के समान प्रेम और आदर करना चाहिये। जो व्यक्ति अपनी सन्तान का आदर नहीं करते वे अस्वाभाविक ही नहीं अपितु ईश्वर के समक्ष भी दोषी हैं, उसी तरह जो व्यक्ति अपने सुन्दर विचारों का सम्मान नहीं करता वह भी अपने प्रति अन्याय करता है। ऐसा व्यक्ति कभी भी आदर का पात्र नहीं हो सकता।

दूसरेके विचारों को जानने के लिए पुस्तकका पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु पुस्तक को इसी दृष्टि से पढ़ना चाहिए कि उसमें कथित बात कहाँ तक हमारे अनुभव से प्रमाणित होती है। जब हमें किसी लेखक के विचार ज्ञात हों तो हमें उन विचारों से अपने विचारों का मिलान करना चाहिये। पुस्तक पढ़नेका अन्तिम लक्ष्य दूसरों के विचार को रट लेना नहीं, अपितु अपने ही विचारों को पुष्ट करना है।

जहाँ तक हो सके हमें अपने उत्तम विचारोंको सुन्दर भाषा में लिखना चाहिये। लिखने से विचार स्पष्ट होते हैं। इससे भाषा पर भी अधिकार होता जाता है। इसके अतिरिक्त वे विचार भी भली प्रकार से हमारे मनमें अंकित हो जाते हैं। मनोविज्ञान का यह अटल सिद्धान्त है कि जिस बातको हम जितना ही अधिक प्रकाशित करते हैं वह उतनी ही अधिक हमारे मन पर अंकित होती है। जो मनुष्य अपने विचार सदा लिखा करता है उसका कुछ ही काल में विद्वानों में आदर होने लगता है। प्रकृति का यह अटल नियम है कि हम उन्हीं योग्यताओं को प्राप्त करते हैं जिनकी हमें आवश्यकता है और वे ही योग्यताएँ स्थिर रहती हैं जिनका हम अभ्यास करते हैं। जब हम अपने विचारों को प्रत्येक समय सुबोध और आकर्षक

बनाने की चेष्टा करते हैं, तो कुछ अभ्यास के बाद हम विचार प्रकाशन की असामान्य योग्यता को प्राप्त कर लेते हैं।

अपने विचारोंको लिखते समय हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि ये विचार अपने ही काम में आने के लिए लिखे गये हैं ; दूसरे लोगों को उन विचारों से लाभ हो तो अच्छा ही है, किन्तु दूसरों के लाभ के लिए अपने उत्तम विचारोंका लिखना उतना श्रेयस्कर नहीं। जो मनुष्य अपने विचार अपने ही लिए लिखता है वही समस्त संसार का उन विचारों से भला करता है। अकेले में प्रत्येक व्यक्ति सच्चा होता है; दूसरे व्यक्ति के आते ही झूठेपन की बू मनुष्य की बातों में आ जाती है। * मनुष्यको अपने विचार लिखते समय सदा यह धारणा रखनी चाहिए कि संसार में दूसरोंका सुधार करने वालों की कमी नही है, कमी है अपने आपको सुधारने वालों की। इस दृष्टि से लिखा गया विचार ही दूसरों को वास्तविक लाभ पहुँचाता है।

---

* Every man when alone is sincere, at the entrance of a second person hypocracy begins.—Emerson : *Essays*

२

आत्म-निर्भरता

संसार के सभी सुखों का आधार आत्म-निर्भरता है। स्वस्थ और अस्वस्थ, धनी और गरीब, स्वामी और सेवक, बलवान और निर्बल, किसी को भी देखिये, एक को आप सुखी और दूसरे को दुखी पावेंगे। यदि इनके सुख और दुःख दोनों का विश्लेषण करके इनका आधार खोजें तो सुखके मूल में आत्म-निर्भरता और दुःख के मूल में उसका अभाव ही पावेंगे। स्वस्थ धनी और प्रभुताशाली पुरुषों में वह आत्म-विश्वास पाया जाता है जिसका अभाव दब्बू, चापलूस और दीन व्यक्तियों में दीख पड़ता है। जिस मनुष्य को अपने पुरुषार्थ में विश्वास है वही सुखी है। जिसे अपने सुख के लिए किसी दूसरे का मुँह देखना पड़ता है, वह कदापि सुखी नहीं रह सकता।

'कर विचार देखो मनमाँहीं, पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।'

आत्म-निर्भरता किसीका जन्मजात गुण नहीं। प्रत्येक प्राणी अपने जीवनके लिए बाह्य प्रकृति पर निर्भर रहता है। प्रकृतिने प्राणि-मात्रको असहाय बनाया है। मनुष्य तो और भी असहाय प्राणी है। यदि हम दूसरे प्राणियों के बच्चों और मनुष्य के बच्चों को देखें तो हमें मनुष्य की असहाय अवस्था प्रत्यक्ष हो जायगी। न मनुष्य के बच्चे को दाँत हैं न नख, जिससे वह अन्य जीवों की भाँति शत्रुओं से अपनी रक्षा कर सके, और न उसके बदन पर बाल है जिनसे वह शीत और गर्मी से अपनी रक्षा कर सके। आत्म-निर्भरता मनका अभ्यासजनित

गुण है। मनुष्य प्रयत्न से वाह्य प्रकृति पर विजय पाता है और प्रयत्न से ही आत्म-निर्भर होता है। वास्तव में बाह्य रूप से हम बिल्कुल स्वावलम्बी कभी नहीं होते. किसी न किसी बातमें हमें दूसरों पर आश्रित रहना ही पड़ता है, पर हम आन्तरिक दृष्टि से स्वावलम्बी बन सकते हैं। जिस प्रकार स्वतन्त्र राष्ट्र, दूसरे राष्ट्रों पर अपनी किसी न किसी प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति के लिए आश्रित हैं; इसी तरह प्रत्येक स्वावलम्बी पुरुष भी दूसरों पर किसी न किसी बात के लिए निर्भर है। मनुष्य समाजमें ही जीवित रह सकता है, बिना समाज की सहायता से उसका जीवन सम्भव नहीं। तिस पर भी वह अपने प्रयत्न से आन्तरिक दृष्टि से स्वावलम्बी बन सकता है। दूसरों पर निर्भर रहते हुए भी वह इस प्रकार का भाव मन में रख सकता है कि वह दूसरों पर निर्भर नहीं है।

यह सम्भव कैसे है? इस प्रश्न का उत्तर मनुष्य के कार्य कलापों के विश्लेषण से मिल सकता है। मनुष्य की प्रत्येक क्रिया अपने सुखकी इच्छा से प्रेरित रहती है। इसके लिए ही वह त्याग करता है। दूसरों की सेवा, आत्म-सेवा के हेतु ही की जाती है। जो मनुष्य यह समझता है कि किसी भी सुखकी प्राप्ति बिना त्याग अथवा कष्ट उठाये नहीं होती, वह सब सुखोंका कारण वाह्य परिस्थितिको न मानकर अपने आप ही को मानने लगता है। फिर वह सदा प्रत्येक सुख की सुविधा का मूल्य समाज को चुकाने को तैयार रहता है। ऐसा मनुष्य अपने आपको समाज का ऋणी न बनाकर समाज को अपना ऋणी बनाता है। उसकी इच्छा सदा यही रहती है कि वह समाज से जितना लाभ प्राप्त करता है उससे अधिक

समाज की सेवा करे। जिस व्यक्ति की भावना सदा देने की ही रहती है, लेने की नहीं, वही आत्म-निर्भर हो सकता है।

प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्रता का इच्छुक है। स्वतन्त्रता संसार की सबसे कीमती वस्तु है। यह स्वतन्त्रताकी इच्छा धर्म का रूप धारण करती है। बिना स्वतन्त्रताके नैतिक जीवन का कोई अर्थ नहीं। परतन्त्र व्यक्ति चाहे जितना सदाचारी हो, उसके सुकर्मोंका श्रेय उसे नहीं। उसके सदाचार अथवा दुराचार का अधिकारी उसका मालिक रहता है। अपने व्यावहारिक जीवनमें आत्म-निर्भर रहना इस स्वतन्त्रता प्राप्ति की पहली सीढ़ी है। अस्तु, आत्म-निर्भरता धार्मिकता की भित्ति है।

आत्म-निर्भरता कैसे प्राप्त की जाय? प्रत्येक बड़े कामका प्रारम्भ छोटे-छोटे प्रयत्नोंसे ही होता है। सदा प्रयत्न करने पर मार्ग मिल जाता है। जो मनुष्य एकाएक मार्ग पा लेना चाहता है उसे अवश्य निराशा होती है। यहाँ पर कुछ आत्म-निर्भरता प्राप्तिके साधन बताये जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को इन्हें अपने अनुभवकी कसौटी पर कसना चाहिये।

आत्म-निर्भरता प्राप्तिका पहला साधन नित्य उद्योग है। प्रत्येक मनुष्य को सदा कुछ न कुछ उद्योग में लगा रहना चाहिये। मनुष्य का व्यक्तित्व जड़ और चेतन के मेल से बना है। जड़ता हमें अनुद्योगी बनाती है; वह हमें जड़ पदार्थके समान निष्क्रय करती है। इसके प्रतिकूल चैतन्यता मन में काम करने की स्फूर्ति पैदा करती है। कुछ न करने वाले व्यक्ति से कुछ न कुछ करने वाला अच्छा है। जैसे बहती नदी का जल स्वच्छ होता है, वैसे नित्य उद्योगी मनुष्य का जीवन निर्मल होता है। सब प्रकार के सद्गुणों का आश्रय उद्योग-शीलता ही है। उद्योगी पुरुष ही अपने आपका तथा दूसरोंका कल्याण कर

सकता है। जिस मनुष्यको दूसरे लोग काम करते देखते हैं, उसीसे अपनी भलाई की आशा करते हैं।

हम जितने क्षण जीते हैं, कुछ न कुछ दूसरों के ऋणी बनते हैं। शरीरके भरण पोषण के लिए भी हमें दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता है। इस ऋण को हम स्वयं दूसरोंकी सेवा करके ही पटा सकते हैं। नित्य उद्योगी पुरुषमें वह शक्ति रहती है जिससे वह दूसरे का ऋण ही नहीं चुका देता, वरन् दूसरोंको भी अपना ऋणी बना लेता है। सतत उद्योग से हमारी मानसिक शक्तियों का विकास होता है। मनुष्य यदि किसी अङ्ग से काम न ले तो कुछ दिनों में वह सुन्न पड़ जाता है और उसकी काम करने की शक्ति चली जाती है। प्रत्येक अङ्ग के सामर्थ्य की वृद्धि काम करने से ही होती है। मनुष्य की मानसिक शक्तियों का भी यही हाल है। देहात की यह कहावत शिक्षाप्रद है कि 'बैठे से बेगार भली।' प्रत्येक विद्वान् को चाहे वह कितना ही पण्डित क्यों न हो निरन्तर विद्याध्ययन और अध्यापन में लगा रहना आवश्यक है। लेखक को लिखनेमें, सङ्गीतज्ञ को गायन में और व्यापारी को रोजगार में दत्तचित्त रहना चाहिये। ऐसा करने के अभ्यास से हम अपनी शक्तियों को जीवित ही नहीं रखते, उनकी वृद्धि करते और अपने साथ-साथ दूसरों का भी भला करते हैं। काममें न लगे रहने से, मानसिक शक्तियों को आलस्य की जङ्ग लग जाती है। इस स्थिति में स्वावलम्बी बनना असम्भव है।

स्वावलम्बी बनने का दूसरा साधन सेवाभाव है। अपनी सेवा अपने आप कर लेना, और दूसरों की कठिनाइयाँ दूर करने की चेष्टा करना, सेवाभाव के ये दो अङ्ग हैं। जो मनुष्य संसार की भलाई करना चाहता है, उसे अपनी सेवा दूसरोंसे

कदापि न करानी चाहिये। दूसरों की सेवा से बचने का प्रयत्न करना और आत्म-निर्भरता प्राप्त करना, एक ही बात के दो अङ्ग हैं। छोटी-छोटी बातोंमें मनुष्य को दूसरों की सेवासे बचना चाहिये। कितने लोग दिन भर निकम्मे रहने पर भी अपना भोजन आप नहीं बनाते, अपने कपड़े आप साफ नहीं करते, कुएँ से पानी खींचकर पीना तो असम्भव ही है। वे भूखे, प्यासे, गन्दे रहना पसन्द करेंगे, किन्तु हाथ न हिलावेंगे। कितने ही लोगों को सोते समय दूसरों से अपना पैर दबवाये विना नींद ही नहीं आती। इस प्रकार वे अपने आपको दूसरों-पर आश्रित कर देते हैं। यदि काल-चक्र के कारण उन्हें गरीबी में रहना पड़ता है तो उनकी मौत ही हो जाती है। अस्तु, इस प्रकार की परमुखापेक्षिता मनुष्य को जीवन-सङ्घर्ष के अयोग्य बना देती है, क्योंकि इससे वह संसार के परिवर्तनों का सामना करने के अयोग्य हो जाता है। जो अपनी सेवा आप नहीं कर सकता, अपना काम आप नहीं कर सकता वह न तो सुखी रह सकता है, और न समाज का कोई उपकार कर सकता है। हाँ, किसी बड़े काममें व्यस्त रहने पर दूसरों से इस प्रकार की सेवा ग्रहण करना क्षम्य है। दूसरों की सेवा लेना अपना अधिकार न समझना चाहिये। उसे तो एक ऋण मानना चाहिये, जिसके जो चुकाये विना वह नष्ट नहीं होता।

दूसरों की सेवा करके मनुष्य पराधीनता की मानो-वृत्ति का नाश करता है। दूसरों की सेवा से यदि दूसरा कोई लाभ न हो तो इतना तो अवश्य है कि वह मनुष्य को कुसमय में भ्रान्तचित्त होने से बचाती है। दूसरों की सेवा करना अपने आध्यात्मिक जीवनकी सुरक्षा का 'प्रीमियम' चुकाना है। मनुष्य के प्रत्येक कायिक और मानसिक कर्म अपने संस्कार अदृश्य

मन पर छोड़ जाते हैं यही संस्कार मानसिक दृढ़ता अथवा निर्बलता के आधार हैं। जब ये संस्कार भले होते हैं, तो सङ्कट के समय मनुष्य उद्विग्न मन नहीं होता, पर जब ये संस्कार बुरे होते हैं तो मनुष्य भ्रान्तचित्त अथवा उद्विग्नमन हो जाता है। पर सेवा चरित्रबल देती है, मित्रों की संख्या बढ़ाती है और शत्रुओं की कमी करती है।

जो मनुष्य स्वावलम्बी समाज सेवक बनना चाहता है उसे मितव्ययी होना चाहिये। उड़ाऊ मनुष्य कदापि स्वावलम्बी नहीं हो सकता। वह सदा दूसरों का ही मुँह ताकता है। उड़ाऊ लोगों में उधार लेने और मुफ्तखोरी की आदत पड़ जाती है। ऐसे लोगों के नैतिक प्रतिबन्ध धीरे-धीरे शिथिल पड़ जाते हैं। जिस मनुष्य का खर्च अपनी कमाई से अधिक है उससे सदाचार की आशा करना व्यर्थ है। ऐसे मनुष्य में न आत्म-सम्मान रहता है, न मानसिक संयम। समाज ऐसे व्यक्ति का आदर नहीं करता। वह स्वयं एक तरफ तो आत्मग्लानि से पीड़ित रहता है और दूसरी तरफ संसार को कोसता है। ऐसे मनुष्योंको आत्मसन्तोष प्राप्त होना असम्भव है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह अपने खर्च को अपनी कमाई से कम करे और बचे धन को भविष्य के लिए जमा करे। सम्भव है कि इस बचे धनका उपभोग वह स्वयं न कर सके, पर धन के बचाने में उसे जो चरित्र का लाभ होता है उससे उसे कौन वंचित कर सकता है। गृहस्थोंके लिए धन बचाना चरित्रगठन का साधन है। सच्चे तरीकों से जो धन प्राप्त होता है उससे मनुष्य में अनेक सद्‌गुणों का प्रादुर्भाव होता है। उद्योग शीलता, आत्मसंयम, नियम पालन, आत्मविवेचन (जागरूकता) आदि गुण उसमें अपने आप आ जाते हैं। जो मनुष्य सच्चे

तरीके और कठिन परिश्रमसे प्राप्त किये धन का दान करता है, वही सच्चा दानी है। ऐसा ही मनुष्य स्वतन्त्रता का अधिकारी होता है।

मुफ्तखोरी की आदत चरित्र तथा आत्मनिर्भरता की विनाशक होती है। जब हमें कोई चीज़ मुफ्त मिल जाती है तो हम प्रसन्न हो जाते हैं। यदि कोई मित्र अपने पैसे से हमें सिनेमा दिखावे या होटल में खिलावे तो हम प्रसन्न हो जाते हैं। यदि हमें कहीं जाना है और हमारे मित्र की गाड़ी खाली पड़ी है तो हम उसे माँगने में नहीं हिचकते। पर इस तरह हम अपने चरित्र का नाश करते हैं। याचना हमारी आत्मा को बौना बनाती है। हमारी आत्मा विष्णु है, यह विष्णु जब किसी के आगे हाथ फैलाता है तो उसे अपना बृहदाकार छोड़ कर बावन बनना पड़ता है। लेने वाले का हाथ हमेशा नीचा रहता है। ज्योंही हम दूसरे का आभार लेते हैं हमारा सिर नीचा हो जाता है, और जब तक हम उसके ऋण को नहीं चुका देते तब तक अपना आत्मसम्मान नहीं प्राप्त करते। कितने तो ऐसे हैं जो दूसरों से फायदा उठाते हैं पर उसका एहसान भी नहीं मानते। ऐसे लोग निकम्मे कहे जाते हैं। वे समाज के ऊपर भार रूप हैं। मुफ्त में मिला हुआ धन भी चरित्र के गुणों का उसी प्रकार ह्रास करता है जिस प्रकार दूसरों से मांग कर लिया गया धन। इससे हमारा लोभ बढ़ जाता है। अतएव मुफ्त मिली सम्पत्ति को दान में देकर हम अपने आपको आध्यात्मिक पतन से बचाते हैं।

३

मानसिक-स्वतन्त्रता

मानसिक-स्वतन्त्रता सब दैवी गुणों की जननी है। सहृदयता, दयालुता, सत्यवादिता, निर्भीकता, कोई भी ऐसा गुण नहीं जिसके धारण करने के लिए मानसिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता न हो। मानसिक स्वतन्त्रता के बिना मनुष्य प्रसन्न चित्त नहीं रह सकता। जो मनुष्य अपनी मानसिक स्वतन्त्रता को खो देता है वह शारीरिक स्वातन्त्र्य को भी खो देता है। कितने ही लोग ऊपरी रूप से स्वतन्त्र होते हुए भी अपनी मानसिक स्वतन्त्रता खोये हुए रहते हैं। उनके आस पास सब प्रकार का वैभव होते हुए भी वे अन्तर्वेदना से पीड़ित रहते हैं।

मानसिक स्वतन्त्रता अपने मनको वश में करने से प्राप्त होती है। वही मनुष्य मानसिक स्वतन्त्रताके सुख की अनुभूति कर सकता है, जो अपनी भोगेच्छाओं को वहीं तक सीमित रखता है, जहाँ तक उनको तृप्त करना उसकी शक्ति के भीतर है। व्यवहारिक जगत में जो व्यक्ति सदा दूसरों को देने के लिए तत्पर रहता है तथा दूसरों से लेने की इच्छा नहीं रखता, वही मानसिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है। हम जितना ही दूसरों से किसी अनुग्रह को प्राप्त करते हैं, उतने ही हम उनके हृदय से गुलाम हो जाते हैं। देने वाले का मस्तिष्क हर समय ऊँचा रहता है और लेने का नत-मस्तक रहना पड़ता है। अतएव किसी की सेवा करना एक खुशी का कारण होना चाहिये और दूसरे का किसी प्रकार का उपकार सहना भारी शर्म की वस्तु मानना चाहिये। जब कोई सरल चित्त मनुष्य प्रथम बार किसी

प्रकार के अनुग्रह को ग्रहण करता है तो वह अपना सम्मान खोने की अनुभूति करता है। उसकी आत्मा अपने ऊपर किए गए उपकार को भार रूप मानती है। इस प्रकार के उपकार से वह सुखी न होकर दुःखी होता है। पर जब बार बार यही मनुष्य दूसरे का उपकार सहता है, तो उसकी उपकार सहने की आत्म-वेदना की शक्ति नष्ट हो जाती है। वह उपकार के भार से इतना लद जाता है कि इस भार से मुक्त होने की न तो वह आशा रखता है न चेष्टा करता है। जिस समय किसी मनुष्य की इस प्रकार की मानसिक स्थिति हो जाती है, उस समय वह अपने चरित्र के सभी सद्‌गुणों को खो देता है।

जब मनुष्य पहले पहल किसी से उपकार ग्रहण करता है, तो वह हृदय से उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है, किन्तु जब वह उपकार ग्रहण करने का आदी बन जाता है, तो उसका उपकार के लिए कृतज्ञता प्रकट करना हृदय से न होकर लोकाचार मात्र हो जाता है। ऐसो स्थिति में वह चापलूस बन जाता है। चापलूसी कृतज्ञता-प्रकाश का विकृत रूप है। चापलूसी एक प्रकार की कृतघ्नता है, चापलूसी के द्वारा मनुष्य अपने प्रति उपकार करने वाले व्यक्ति को धोखे में डालता है। उसकी वास्तविक सेवा की इच्छा वह नहीं रखता, किन्तु तिस पर भी वह उसके प्रति अनेक प्रकारके सद्‌भाव प्रकट करता है। वह अपने आप को इस प्रकार नीचा बनाता है और दूसरे व्यक्ति को भी आत्म-ज्ञान से वञ्चित रखता है। बिना परिश्रम पाया हुआ धन तथा अनधिकार अनुग्रह की प्राप्ति मनुष्य को चापलूस बनाती हैं। जो मनुष्य दूसरों से अनुग्रह प्राप्त करके उसके बोझ का अनुभव नहीं करता उसके प्रति किसी प्रकार का अनुग्रह करना व्यर्थ है। ऐसा अनुग्रह अपना तथा उसका

आध्यात्मिक पतन करता है। समाज में कितने ही व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो किसी व्यक्ति से किसी प्रकार भी धन प्राप्त करना अथवा अपनी स्थिति सुधारने में उनको काम में लाना अनुचित नहीं समझते। इस प्रकार के लोग समाज के ठग हैं। इन ठगों को प्रोत्साहन देना समाज के प्रति भारी पाप करना है। आधुनिक कालमे हमारे पुरोहित और पण्डे लोग समाजके अन्य लोगों से पैसा ऐंठना अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझते हैं। जो लोग पण्डे पुरोहितों को मनमाने दाम नहीं देते उनका पण्डे पुरोहित अहित-चिन्तन ही नहीं करते वरन् उनको मारने पीटनेके लिए तैयार रहते हैं। पण्डे-पुरोहितों की मनोवृत्ति वाले व्यक्ति पशु श्रेणी के हैं, अथवा उनसे भी नीचे गिरे हुए हैं। दान का पात्र वही व्यक्ति है जो दान ग्रहण करने से आत्म-सम्मान खोने का अनुभव करता है। अनुग्रह उसी व्यक्ति के प्रति करना चाहिये जो किसी भी प्रकार का अनुग्रह भार रूप समझता है और जो इस भार का शीघ्राति-शीघ्र अपने सिर से उतारने के लिए तत्पर रहता है। मानसिक स्वतन्त्रता का इच्छुक मनुष्य दूसरे का अनुग्रह ग्रहण नहीं करता और यदि उसे किसीका अनुग्रह ग्रहण करना पड़े तो वह उसे उतारने की चेष्टा सदा करता रहता है। हम जिन मनुष्यों के कृपा-पात्र होते हैं उन्हीं की सेवा करने में कभी कभी हम समर्थ नहीं होते। ऐसी स्थिति में यदि हम सम्पूर्ण मनुष्य समाज को अपनी सेवा का लक्ष्य बना लें तो हम उसी मानसिक स्वतन्त्रता का अनुभव करेंगे जो एक ऋणी व्यक्ति अपने ऋण को चुकाने में करता है।

मानसिक-स्वतन्त्रता की कीमत को समझने वाला व्यक्ति ही स्वावलम्बी बन सकता है। जिस तरह महाजन के तकाज़े को

भार मानने वाला व्यक्ति अपनी आय-व्यय को इस प्रकार नियन्त्रित रखता है कि उसे किसी से ऋण न लेना पड़े, इसी तरह दूसरों के अनुग्रह से डरने वाला व्यक्ति अपनी इच्छाओं को आत्म नियन्त्रण में रखता है। इस तरह वह स्वावलम्बी बन जाता है। वह सब प्रकार के कष्टों को सहन करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। स्वाधीनता की कीमत करने वाले व्यक्ति का यह उपदेश है—

> रूखी सूखी खाय के ठण्डा पानी पीव।
> देख पराई चूपरी मत ललचाओ जीव॥

मनुष्य का मन अभ्यास का दास है। हम जिस प्रकार की स्थिति के आदी बन जाते हैं, उसी में आनन्द का अनुभव करने लगते हैं। झोपड़ियों में रहने वाले, टाट और चटाई पर सोने वाले, उतने ही आराम से अपने घरोंमें रहते हैं और सुख की नींद सोते हैं जितने सुख से पक्के घरों में रहने वाले तथा नरम नरम गद्दों पर सोने वाले। सुख और दुःख मानसिक अनुभूतियाँ हैं। ये वाह्य परिस्थितियों पर उतनी निर्भर नहीं, जितनी कि आन्तरिक परिस्थितियों पर निर्भर हैं। वाह्य संसार चाहे जैसा हो, यदि हमारा उसके प्रति दृष्टि-कोण ठीक है तो हमारी मानसिक स्थिति आनन्द की रहेगी, अन्यथा क्लेशमयी रहेगी।

जो मनुष्य मानसिक स्वतन्त्रता का प्रेमी है वही वास्तविक धर्म का रूप समझ सकता है। ऐसा मनुष्य सदाचारी ही नहीं, अपितु दैवी शक्ति में विश्वास करनेवाला होता है। आपत्ति-काल में वह सहायता के लिए किसी मनुष्य की ओर दृष्टि न लगा कर सर्वव्यापी परमात्मा की ओर दृष्टि लगाता है। उसे पूर्ण विश्वास रहता है कि मनुष्य के साधारण ज्ञान के परे

एक ऐसी सत्ता है, जो सदा सच्चे हृदय वाले व्यक्ति की आपत्ति काल में सहायता करती है। जो व्यक्ति जितनी दूर तक अपने जीवन के लिए मनुष्यों का सहारा छोड़ता है और स्वावलम्बी बनने की चेष्टा करता है, वह उतना ही परमात्मा की ओर भी जाता है अर्थात् वह अपने दैवी स्वभाव की अनुभूति करता है, जिसकी शक्ति अपरिमित है।

विद्या-दान

सभी प्रकार के दानों से महत्व का दान विद्यादान है। मनुष्य को दिया हुआ धन उसे थोड़े दिन तक काम दे सकता है, पर उसे दी हुई विद्या सभी समय उसके साथ रहती है। संसार के लोग अनेक प्रकार की कमियों की अपने आप में अनुभूति किया करते हैं। इन कमियों में से बहुतसी कमियाँ भ्रम मात्र होती है। ज्ञान के उत्पन्न होने पर मनुष्य इन कमियों को भ्रम मात्र जान कर उनकी पूर्ति के लिए इतना विकल नहीं होता। एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य में यदि कोई मौलिक भेद होता है तो वह ज्ञान का ही भेद होता है। मनुष्य जीवन की सफलता और विफलता, उसकी सम्पत्ति और ऐश्वर्य उसके ज्ञान पर ही निर्भर करते हैं। मनुष्य का आचरण भी उसके ज्ञानके ऊपर निर्भर करता है। जैसा मनुष्य का ज्ञान होता है वैसा उसका आचरण होता है और जैसा उसका आचरण होता है वैसा उसका चरित्र होता है।

विद्यादान की मौलिकता जानकर प्रत्येक व्यक्तिका यह धर्म होता है कि वह जब भी अवसर पावे इसका दान करे। विद्यादान करने की योग्यता सभी पढ़े लिखे व्यक्तियों में होती है। मनुष्य चाहे कितना ही कम पढ़ा-लिखा क्यों न हो वह अपने से कम पढ़े लिखे लोगों को अवश्य कुछ न कुछ पढ़ाने की योग्यता रखता है। जिस व्यक्ति को दूसरे लोगों की सेवा करने की इच्छा होती है उसे सेवा के अवसर की कमी नहीं

रहती। कितने हां लोग विद्या द्वारा सेवा के लिए उस दिन की वाट जोहते रहते हैं जब वे सम्पूर्ण विद्वान हो जावेंगे। उनकी यह काल्पित सम्पूर्णता उनमें कभी भी नहीं आती।

ज्ञान की वृद्धि उसके प्राप्त करने से तथा उसके दान के द्वारा होती है। जो व्यक्ति सदा विद्या ग्रहण करने के लिए ही उत्सुक रहते हैं, किन्तु विद्यादान के लिए उतने कटिबद्ध नहीं रहते, उनकी विद्याध्ययन की रुचि भी नष्ट हो जाती है। संसार के विद्वान पुरुष वे नहीं समझे जाते जो सदा विद्या अध्ययन करते रहते हैं, किन्तु वे ही लोग संसार के विद्वान समझे जाते हैं जो अपने अथवा दूसरों के विचारों का अपनी वाणी अथवा लेखनी के द्वारा प्रचार करते हैं। बुद्ध भगवान ने नए-भले विचारों का उत्पादन करना और पुराने विचारों का प्रवर्तन करना सम्यक व्यायाम का अङ्ग माना है। यह सत्य प्राप्तिके मार्गका एक अङ्ग बताया गया है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक भले उपयोगी विचारोंका प्रचार करता है वह उतना ही महान् है, चाहे ये विचार अपने हों अथवा दूसरे के।

विचारों को दूसरों को समझाने की चेष्टा करने से वे हमें ही स्पष्ट हो जाते हैं। कोई मनुष्य अपने विचारों को ठीक तरह से तब तक नहीं जानता जब तक कि वह उन्हें बोलकर अथवा लिखकर दूसरों को समझाने की चेष्टा नही करता। पढ़े हुए विचार सजीव नहीं होते। विचारों का जीवन उनके बार-बार प्रकाशन पर निर्भर करता है। जो विचार जितनी ही बार नई नई तरह से प्रकाशित किये जाते हैं, वे उतने ही अधिक सजीव होते हैं। जब हमें अपने विचारों को भिन्न-भिन्न बुद्धि के लोगों को समझाना पड़ता तो उन्हें कई प्रकार का बाना पहनाना पड़ता है। सुनने वाले की मानसिक योग्यता के अनुसार

हमें भाषा, और कल्पनाओं की खोज करनी पड़ती है। ऐसा करनेसे हम स्वयं विचारों को ठीक से समझते हैं।

देखा गया है कि जो शिक्षक जिस विषय को किसी कक्षा को नहीं पढ़ाता वह उस विषय पर उत्तम पुस्तक भी नही लिख सकता। वास्तव में विषय को पढ़ाने से वह विषय हमें ही स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार किसी विषय पर वार बार लिखते रहने से उस विषय की गम्भीरता और मौलिकता हमारी समझ में आती है। इस तरह दूसरे को शिक्षित करने के प्रयत्न से हम अपने आपको ही शिक्षित बनाते हैं।

स्वामी रामतीर्थ ने अमेरिका के लोगों की इस बात की प्रशंसा की है कि वे दूसरे के विचारों को जानने मात्रकी चेष्टा नहीं करते, उन्हें अपनाने और नए तरह से प्रकाशित करने की चेष्टा भी करते हैं। किसी भी विद्वान को यह जानकर कितनी अधिक प्रसन्नता होती है कि उसके शिष्य उनके ऊपर झूठीं श्रद्धा मात्र नहीं रखते, वरन् उसके विचारों को अपनी भाषा और कल्पनाओं का बाना पहना कर प्रचार करते हैं। स्वामी रामतीर्थ को यह जानकर कितनी अधिक प्रसन्नता हुई कि उनके वेदान्त के विचार एक अमेरिकन युवती समझती ही नहीं जाती थी, वह उन्हें घर पर जाकर लिखती और स्वतन्त्र टीका टिप्पणियाँ करती थी। उसने व्याख्यानों के अन्तमें स्वामी रामतीर्थ को वेदान्तपर अपनी बनाई हुई एक पुस्तक दे दी थी।

अभी हाल की बात है मैं और मेरे एक मित्र ने एक क्षय रोग पर व्याख्यान सुना। इसके बाद हम लोगों ने आपस में विचार विन्वय किया और संकल्प किया कि जो विचार उस समय आये उनका प्रचार किया जाय। मेरे मित्र ने

और मैंने इस विषय पर घर जाकर स्वतन्त्र लेख लिखे। मेरे मित्र मनोविज्ञान के पण्डित नहीं, किन्तु उनके प्रकाशित लेख को देख कर मैं चकित हो गया। उस लेख में कुछ मनोवैज्ञानिक विचार इस प्रकार रखे गये थे कि कोई भी मनो विज्ञान का पण्डित, उनकी प्रशंसा करेगा।

विचार किसी भी व्यक्ति की बपौती नहीं है। इमरसन महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि विचार उसीकी सम्पत्ति है जो कि उसका श्रद्धा के साथ स्वागत करता है और उसका उचित उपयोग कर सकता है। विचारों का उचित उपयोग उनके वितरण से ही होता है, विचार चेतन्य वस्तु है न कि जड़। चेतन्य वस्तु सदा चलायमान रहती है। बार बार नये नये तरह से प्रकाशित होने से ही विचार जीवित रहता है।

हमारे देश के विद्यार्थी विद्या अध्ययन में किसी दूसरे देश के विद्यार्थियों से कम नहीं है। पर जब वे जीवन में आते हैं तो उनकी विद्या जड़वत् हो जाती है। उन्हें अपनी विद्या पर भरोसा नहीं रहता। विद्या पर अधिकार रखने के लिये इतना पर्याप्त नहीं कि हम अपनी परीक्षाओं को प्रथम श्रेणी में पास कर लें। विद्या पर अधिकार रखे रहने के लिये यह आवश्यक है कि हम विद्या को बार-बार दान दें। हमारे देश के प्रोफेसर अपनी विद्या का ऐसा सदोपयोग नहीं करते जैसा कि यूरूप और अमेरिका के विद्वान करते हैं। उनका ज्ञान उनके मस्तिष्क के किसी एक कोने में पड़ा रहता है। वे प्रायः क्लास में पढ़ाने भर के लिये नाट लिख लेते हैं और इन्हीं नोटों को बार-बार दुहराते हैं। इससे विद्या का ह्रास हो जाता है।

इस प्रकार की स्थिति विदेशी भाषा में कालेज की पढ़ाई होने का परिणाम है। जिन लिगों के पास मौलिक विचार हैं

उन्हें उन विचारों के प्रकाश का कोई प्रोत्साहन नहीं हैं। वे प्रायः देशी भाषाओं में अपने विचार प्रकाशित ही नहीं कर सकते और यदि विचारों को प्रकाशित भी करें तो राज्य की ओर से उन्हें कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता। अंग्रेजी भाषा में तो अंग्रेज लोग ही पर्याप्त काम कर रहे हैं। अतएव हमारे देश के अधिक पण्डित यहाँ भी अपना स्थान नहीं देखते। इस तरह उनकी यदि कोई नई सूझ हुई तो वह उन्हीं तक सीमित रह जाती है। वे अपना पुराना ज्ञान भी भूल जाते हैं। यही कारण है कि हमारे देश के प्रतिभावान विद्यार्थी आगे चलकर प्रतिभा को नहीं दिखाते। मनुष्य अभ्यास से ही अपनी मानसिक शक्तियों का विकास करता है। अनाभ्यास से वे शक्तियाँ नष्ट हो ज़ाती हैं।

हमारी वर्तमान राजनैतिक परिस्थिति में जब तक हमारी विद्वन मण्डली निस्वार्थ भाव से अपने मौलिक विचारों को जनता के समक्ष रखने का संकल्प नहीं कर लेती तब तक न तो देश का कल्याण हो सकता है और न विद्वानों का ही। जनता तो अज्ञान में पड़ी हुई है। उसमें किसी विद्वान के विचारों का मूल्य आंकने की योग्यता ही नहीं है। यह योग्यता विद्वानों को हा उसे प्रदान करना है। अब यदि स्वयं विद्वान लोग मान अथवा धन के पीछे अथवा आलस्य के कारण जनता को अपने विचारों से वंचित रखें तो हमारे देश का किसी प्रकार भी पुनरुत्थान न होगा।

देखा गया है कि किसी भी जटिल विचार को पहले पहल देशी भाषाओं में प्रकाशित करने में कठिनाई होती है। पर अभ्यास के पड़ जाने पर यह कठिनाई चलीजाती है। अभ्यास से हम अपनी भाषा को सुबोध बना लेते हैं। जनता

में भी धीरे-धीरे वह योग्यता आ जाती है जिससे कि वह किसी विद्वान के जटिल भावों को समझ सके। कविवर वर्ड्सवर्थ महाशय का कथन है कि प्रत्येक प्रतिभाशाली लेखक को न सिर्फ सुन्दर सुबोध पुस्तकें लिखना पड़ती हैं, वरन् जनता में उस रुचिको उत्पन्न करना पड़ता है जिससे कि लोग उसके विचारों की योग्यता समझ सकें। इस रुचि का उत्पन्न करना लेख अथवा कविता के लिखने से कहीं अधिक कठिन कार्य है। लेखक इस कार्य में तभी सफल होता है जब वह अपने जीवन का उद्देश्य जनता को उत्तम विचारों से शिक्षित करना ही बना ले।

अपने मौलिक विचारों का प्रचार करना जनता के हित की दृष्टि से लाभ कर हो अथवा नहीं, अपने ही ज्ञान वृद्धि की दृष्टि से बड़ा ही लाभ कर है। इतना ही नहीं, विचारों को अनेक प्रकार से बार-बार प्रकाशित करने से वही लाभ होता है जो किसी एक मंत्र के अर्थ ज्ञान के सहित जपने से होता है। विचार के प्रकाशन के समय, उस पर भली प्रकार से मनन होता है और इससे आत्म-विश्वास की उत्पत्ति होती है। महात्मा गांधी और तिलक महाराज के विचारों की उतनी परिपक्वता कदापि न आती यदि वे उन्हें जनता के समक्ष किसी न किसी प्रकार सदा प्रकाशित न करते रहते। विचार जब तक हमारे मन के आन्तिरिक भाग में प्रवेश नहीं कर जाता तब तक वह हम में मानसिक दृढ़ता नहीं लाता। मन के आन्तरिक भाग में प्रवेश करने के लिये विचार के अनेक पहलुओं पर चिन्तन करना आवश्यक है और यह तभी होता है जब हम उसका सदा वितरण करते रहते हैं। अतएव अपने निश्चयों में परिपक्वता लाने के लिये भी जनता में अपने विचारों के प्रचार करने की आवश्यकता है।

सेवा-दान

दूसरे की सेवा में तत्पर रहना अपने आपके कल्याण का सबसे सुलभ साधन है। मनुष्य की तृष्णा एक बढ़ता हुआ दैत्य है, इसे जितना शान्त किया जाय, वह उतना ही अधिक प्रबल होता है। हमारी इच्छायें अनन्त हैं। एक को पूरा करने से अनेक आ जाती हैं। इन इच्छाओं की पूर्ति से भी चित्त सुखी नहीं होता। वैयक्तिक सुख की खोज करने वाले व्यक्ति को चिन्ता खा जाती है; हजारों प्रकार के झगड़े दूसरों से लग जाते हैं। उनके विनाश की इच्छा मनुष्य करता है और इस प्रकार अपने मन को निर्बल बना लेता है। जिस समय मनुष्य अपने जीवन का लक्ष्य वैयक्तिक सुख की खोज नहीं बनाकर दूसरों की सेवा करना बना लेता है, वह वास्तविक सुख की ओर जाता है। अपने सुख की खोज मनुष्य के मन को कमजोर करती है और दूसरों के सुख की खोज उसे बलवान बनाती है। अपने सुख की खोज बन्धन का कारण है और दूसरों के सुख की खोज मुक्ति का कारण है। वास्तविक सुख दूसरों के सुख की चेष्टा से ही प्राप्त किया जा सकता है।

जो लोग अपना घर द्वार छोड़कर देश सेवा व समाज सेवा में लग जाते है उन्हें समाज के लोग विक्षिप्त सा मानते हैं। कितने ही लोग उनके कष्टों से सहानुभूति दिखाते हुये यह चाहते हैं कि वे इस प्रकार के काम में न पड़ें। पर क्या यही लोग समाज के जीवन-प्राण नहीं हैं? जिस समाज में ऐसे लोगों का अभाव रहता है वह विछिन्न हो जाता है। समाज के सुसं-

गठित रखने के लिये इतना ही आवश्यक नहीं है कि समाज के लोग आर्थिक अथवा नैतिक दृष्टि से एक दूसरे पर अवलम्बित रहें ; समाज को दृढ़ बनाने के लिये समाज को अपना समझने वाले लोगों की भी आवश्यकता है। स्वार्थी लोगों का समाज कदापि दृढ़ नहीं हो सकता। हरबर्ट स्पेन्सर तथा दूसरे पाश्चात् विद्वानों ने समाज का आधारभूत स्वार्थ ही दर्शाकर समाज के प्रति बड़ा अन्याय किया है, तथा उसके नाश की वेलि बो दी है। समाज त्याग और सेवा भाव से ही जीवित रह सकता है। मैत्री भावना समाज के व्यक्तियों को जोड़ने वाली सीमेंट या गारा है। स्वार्थ भावना समाज को नाश करने वाली कुदारी है। अस्तु, अपने कल्याण अथवा दूसरों की भलाई की दृष्टि से सेवा भाव से बढ़कर दसरी कोई भली वस्तु नहीं।

सेवा भाव सभी स्थिति और अवस्था के लोगों में होना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को दसरों की सेवा के लिये कुछ न कुछ करना चाहिये। बालक को माता, पिता, गुरुओं तथा मित्रों की सेवा करनी चाहिये; साधुओं को गृहस्थों की दीन-दुखियों की सेवा करनी चाहिये। मनुष्य दूसरों की सेवा शरीर से, धन से अथवा बुद्धि से कर सकता है। बीमार लोगों की देखभाल करना, बच्चों और बड़ों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना शारीरिक सेवा है; गरीबों के भोजन का प्रबन्ध करना, औषधालय खुलवाना, विद्यालय बनवाना, घूमने वालों के लिये सराय बनवाना आदि धन से सेवा है; सुन्दर विचारों की प्राप्ति करना और उनका वितरण करना बौद्धिक सेवा है। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी प्रकार की सेवा, शरीर, मन और वाणी से कर सकता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो हम किसी न किसी प्रकार दूसरों की सेवा अनजाने किया ही करते हैं।

अपने स्वार्थ की सिद्धि भी दूसरों के स्वार्थ-साधन बिना सम्भव नहीं। धन कमाने वालों को नौकर चाकर रखने पड़ते हैं; नाम कमाने वालों को दान धर्म करना पड़ता है; विद्योपार्जन करने वालों को शिक्षक को पैसा देना पड़ता है। इस तरह प्रत्येक स्वार्थ की खोज में दूसरों की सेवा अनायास हो जाती है। पर इस प्रकार की सेवा से मनुष्य का आत्मोद्धार अर्थात् आध्यात्मिक विकास नहीं होता। जब तक मनुष्य के किसी कार्य का हेतु सेवा नहीं है, वह उसके आध्यात्मिक जीवन को पुष्ट नहीं करता। किसी भी काम का शुभ अथवा अशुभ होना उसके हेतु पर निर्भर है। जिस काम का जैसा हेतु है, वह काम आध्यात्मिक दृष्टि से वैसा ही है। यदि किसी भिखमँगे को हमने पैसा फेंककर मारा और उस पैसे को भिखमँगे ने उठा लिया और उससे अपनी क्षुधा तृप्त की, तो परिणाम तो अच्छा ही हुआ, पर इससे हमारा आध्यात्मिक लाभ कुछ भी न हुआ। यदि हमने किसी बीमार व्यक्ति को निरोग बनाने के लिये कोई दवा दी, और उससे उसकी बीमारी घटने के बदले और बढ़ गई तो परिणाम बुरा होने पर भी काम भला ही कहा जायगा। मनुष्य के हाथ में उसके हेतु ठीक रखना मात्र है, परिणाम तो बाह्यपरिस्थियों पर निर्भर रहता है। जान बूझ कर जो काम लोकोपकार के लिये किया जाता है, वह हमें आध्यात्मिक शान्ति देता है।

गृहस्थ जीवन के दुखी होने का प्रधान कारण स्वार्थीपन होता है। स्त्री-पुरुष, पिता-पुत्र, भाई-भाई में कलह इसलिये ही होता है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को अपने सुख का साधन बनाना चाहता है; वह दूसरे के सुख की परवाह नहीं करता। यदि हम अपने परिवार के लोगों को सदा इस दृष्टि से देखें कि

वे सेवा के लिये ही हैं—हमें उनकी सेवा करना है न कि सेवा ग्रहण करना, तो पारिवारिक जीवन कदापि दुःखी न हो। जब हमारे मन में सेवा की भावना आती है. तो उसका अज्ञान रूप से असर हमारे आस पास के लोगों पर भी पड़ता है। उनका चित्त भी हमारे प्रति उदार हो जाता है. तथा उनका आपस का व्यवहार भी सुधर जाता है। इसके प्रतिकूल जब हमारे मन में स्वार्थपरायणता और अपने सुख की चाह बढ़ती है तो ऐसी ही भावना हम आस पास के लोगों में उत्तेजित करते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप हम अपना परिवार नर्क ही बना देते हैं।

जब कोई व्यक्ति हमारे पास आये तो हमारे मनमें पहला प्रश्न यह आना चाहिये कि इसका हमारे पास आने का हेतु क्या है और हम इसकी सेवा किस तरह कर सकते हैं। कितने लोग उनके समीप आने वाले लोगों के हेतु के विषय में जानने की चेष्टा ही नहीं करते, और कितने प्रत्येक मनुष्य को अपने स्वार्थ का साधन कैसे बनावें इसी की खोज में रहते हैं। ऐसे लोग बड़े चतुर समझे जाते हैं। वे संसार में जल्दी से उन्नति करते देखे जाते हैं। पर यदि हम उनके मन का अध्ययन करें तो उन्हें नितांत दुखी पावेंगे। ऐसे लोगों को कोई प्यार नहीं करता, उनसे भय अवश्य होता है। वे परिवार तथा पड़ोस के लोगों से सदा असन्तुष्ट रहते हैं और परिवार के लोग भी उनसे असन्तुष्ट रहते हैं। वे यदि किसी व्यक्ति की सेवा करते हैं तो उसके लिये उसे जन्म भर के लिये अपना गुलाम बना लेना चाहते हैं। उनकी कोई भी सेवा स्वार्थ बुद्धि से रहित नहीं रहती। अन्त में ये लोग दुख के सिवाय और कुछ नहीं पाते।

जिस प्रकार पड़ोसियों की सेवा से गृहस्थ जीवन सुखी बनाया जा सकता है, उसी तरह लोक सेवा से भिक्षु

और सन्यासियों का जीवन सुखी बनाया जा सकता है। भारतवर्ष में कुछ ऐसी प्रथा चली आई है कि साधु लोग दूसरों की सेवा नहीं करते। यह बात सभी साधुओं के विषय में सत्य नहीं है, पर अधिकांश साधुओं में यही देखा जाता है। यदि साधु लोक-सेवा नहीं करता तो उसे लोक-सेवा ग्रहण करने का भी अधिकारी अपने आप को न मानना चाहिये। लोक सेवा के विना निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नहीं। जब बुद्ध भगवान को ज्ञान प्राप्त हो गया तो वे पहले इस ज्ञान को संसार को नहीं देना चाहते थे। पर अन्तर आत्मा की प्रेरणा से उन्होंने अपने प्राप्त ज्ञान को संसार के लोगों को देना स्वीकार किया। वे जीवन भर समाज-सेवा करते रहे और सेवा करते करते महानिर्वाण को प्राप्त हुये।

साधु लोग समाज की सेवा धन से नहीं कर सकते। पर वे शरीर से और बुद्धि से अवश्य ही समाज की सेवा कर सकते हैं। जैसे बुद्ध भगवान कोढ़ी ज्वर से पीड़ित आदि लोगों की सेवा करते थे, इसी तरह दूसरे लोग भी ऐसी सेवा कर सकते हैं। इसके उपरान्त वे अपने ज्ञान से तो अवश्य ही समाज की सेवा कर सकते हैं। बौद्ध देशों में भिक्षु लोग ही विद्यार्थियों को पढ़ाने लिखाने हैं। इस तरह एक ओर गृहस्थ लोग उनका सेवा भोजन वस्त्र आदि देकर करते हैं, तो दूसरी ओर भिक्षुगण ज्ञान वितरण से गृहस्थों की सेवा करते हैं। दोपहर से पहले वे बालकों को पढ़ाते रहते और शाम के समय गृहस्थों को धर्मोपदेश देते हैं। इस प्रकार के कामों से उनका मन निर्मल होता है।

साधु लोग गृहस्थों की सेवा अप्रत्यक्ष रूप से भी करते हैं। तत्व चिन्तन के पूर्व वे मैत्री भावना का अभ्यास करते हैं।

मैत्री भावना का अभ्यास करना भी समाज सेवा है। वे जो ज्ञान अपने आध्यात्मिक चिन्तन से प्राप्त करते हैं, समाज को देते हैं। सब दानों से बड़ा ज्ञान-दान है। साधु महात्मा इस दान को अपने प्रत्येक आचरण से सदा देते रहते हैं।

मनुष्य सदा ही तीन प्रकार की एषणा की दासता करता रहता है—ये हैं लोकेषण, पुत्रेषणा और वित्तेषणा। सबसे पहले तथा व्यापक रूप से मनुष्य पर प्रभाव वित्तेषण का होता है। धन का संचय, तथा सब प्रकार की सम्पत्ति जोड़ना वित्तेषणा के वश में हो कर किया जाता है। लाखों करोड़ों का धन प्राप्त कर के भी यह धन की इच्छा शान्त नहीं होती। कितने लोग धन जोड़ते समय इस बात पर विचार ही नहीं करते कि धन किस लिये जोड़ा जा रहा है। जिनको सन्तान नहीं और अपने शरीर से भी स्वस्थ नहीं,वे भी सदा धन के संग्रह में इतनी शक्ति खर्च कर देते हैं कि वे अपने धन का उपयोग करने योग्य रह ही नहीं जाते। धन-संचय में शरीर का नाश कर डालते हैं। मृत्यु पर्यन्त भी अधिकांश लोगों को वित्तेषणा नहीं छोड़ती।

पुत्रेषणा वित्तेषणा के बाद मन पर प्रभाव डालती है। इस एषणा के कारण मनुष्य पारिवारिक जीवन ग्रहण करता है। वह कठिन परिश्रम से पैदा किये धन को अपने परिवार पर खर्च करता है। इस तरह पुत्रेषणा से अधिक प्रबल सिद्ध होती है। वित्तेषणा जर्मनी के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता शोपनहावर ने मनुष्य की समस्त क्रियाओं का विश्लेषण करके दर्शाया है कि वे सभी "जीने की इच्छा" से ही प्रेरित होती है। यही जीने की इच्छा वित्तेषणा में परिणात होती है। धन एक ऐसा दैत्य है जो प्रत्येक इच्छित वस्तु में परिणात हो जाता है। इसलिये प्रत्येक

मनुष्य धन को चाहता है । अपने आपका अभाव कोई भी नहीं चाहता, इसी तरह धन का भी अभाव कोई नहीं चाहता । पर भौतिक शरीर नश्वर है, इस सत्य का भी कोई मिटा नहीं सकता । मनुष्य की अमरत्व की इच्छा अमिट इच्छा है । शरीर की नश्वरता के होते अमरत्व की इच्छा की पूर्ति कैसे हो ? इसकी पूर्ति के लिये प्रकृति ने मार्ग खोज लिया है । उसने मनुष्य की अमरत्व की इच्छा को पुत्रेषणा में परिणत कर दिया है। धन व्यैक्तिक सुख को बढ़ा सकता है । अमरत्व प्रदान नहीं कर सकता । संतान मनुष्य के भौतिक जीवन को एक तरह से अमरत्व प्रदान करती है, अतएव सभी लोग अपने जीवन का नाश संतान के लिये कर देते हैं और कठिन परिश्रम से कमाये धन को संतान के लिये खर्च करने में नहीं हिचकते । जब मनुष्य विचार शून्य होकर अपनी प्रेयसी के लिये सब कुछ त्याग करने के लिये तैयार हो जाता है तो वह प्रकृति की इच्छा के अनुकूल ही कार्य करता है । वास्तव में प्रकृति ही दो प्रेमियों को अमरत्व प्रदान के लिये अँधा बना देती है । जो मनुष्य अपनी प्रेयसी के लिये, अथवा संतान के लिये धन का त्याग नहीं करते वे समाज में निन्दनीय माने जाते हैं । वे बड़े स्वार्थी हैं और प्रकृति के नियम के विरुद्ध कार्य करते हैं । मनुष्य की प्राथमिक लोक-सेवा का आधार यही पुत्रेषणा है । इसके द्वारा मनुष्य पहले पहल शरीर के घेरे से बाहर निकलता है । वह अपने शरीर से बाहर दूसरे व्यक्ति से आत्मीयता स्थापित करता है, उसको सुख पहुचाने के लिये अपने आप कष्ट सहता है । अतएव जो मनुष्य पारिवारिक जीवन में होता है वही लोक सेवा करने की योग्यता रखता है ।

पुत्रेषणा से अधिक महत्व की ऐषणा लोकेषणा है । यह

सबसे छोटी है पर सबसे प्रबल है। लोकेषणा के कारण मनुष्य धन का ही त्याग नहीं करता वरन् घर बार के लोगों का भी त्याग कर देता है। धर्म की दृष्टि से यह भी उचित है। लोकेषणा मनुष्य को व्यक्तिगत जीवन से बाहर लाती है। उसके कारण मनुष्य समाज के लिये अनेक भले काम करता है। मनुष्य का आचरण सुधारने में लोकेषणा का ही प्रबल कार्य होता है। लोकेषणा देशभक्त को फाँसीके तख्ते तक पहुँचा देती है। जिस मनुष्य में जितनी प्रबल लोकेषणा रहती है वह उतना ही अधिक समाज की सेवा के लिए तत्पर रहता है।

उपर्युक्त तीनों प्रकारकी एषणायें सदा लौकिक जीवन में कार्य करती रहती हैं। हमारा कोई भी कार्य पूर्णतः निस्वार्थ हो, यह सम्भव नहीं। सेवा-भावसे इन एषणाओं का बहिष्कार अथवा शोध होता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने भी दर्शाया है कि मनुष्यके प्रत्येक कार्यमें तीनों में से एक न एक एषणा कार्य करती है। मनोविज्ञान ने उक्त तीन एषणाओं को भूख, काम और शक्ति की चाह के नाम से पुकारा है। ये वासनायें असभ्य समाज में नग्न रूप में अपना नृत्य करते देखी जातीं है; सभ्य समाज में यही वासनायें अलंकृत होकर प्रगट होती हैं। भूख की इच्छा अनेक प्रकार की सम्पत्ति में परिणत हो जाती है; काम वासना कला कविता, सौन्दर्य उपासना, वात्सल्य भावमें रूपान्तरित हो जाती है, और अधिकार की चाह नेता-गिरी लोक-सेवा आदि में परिणत हो जाता है। समाज की सभी प्रशंसित तथा अप्रशंसित कार्यों के पीछे यही वासनायें रहती हैं। हम प्रायः देखते हैं कि एक मनुष्य लोक-सेवा के भाव से किसी संस्था का स्थापन अथवा सञ्चालन करता है। पीछे

वह उसी कामसे अपने स्वार्थ का साधन करने लगता है। विरला ही समाज सेवक ऐसा मिलेगा जिसके मन में पद-लोलुपता न हो। स्वयं समाज सेवी पुरुष इस बातको नहीं देख पाता। इसलिए अनेक प्रकार के अनिष्ट होते हैं। कितने ही लोकसेवक इस तरह लोकविनाशक वन जाते हैं। वे प्रत्यक्ष मन से तो दूसरों की सेवा करते हैं, पर अप्रत्यक्ष मन से दूसरों की सेवा के इच्छुक रहते हैं। जब उनका समाज आदर नहीं करता तो वे उसके शत्रु बन जाते हैं।

जो मनुष्य समाज का वास्तविक कल्याण करना चाहता है, उसे समाज सेवा करते रहने के साथ ही साथ यह आत्म-निरीक्षण भी करते रहना चाहिये। उसे देखना चाहिये कि कहाँ तक उसका सेवा का कार्य आत्म सेवा है और कहाँ तक पर-सेवा। इस आत्म निरीक्षण का ही दूसरा नाम आध्यात्मिक चिन्तन है। आध्यात्मिक चिन्तन के द्वारा मनुष्य अपने प्रति सतर्क हो जाता है। किसी काम के बिगड़ जाने पर वह उसका दोषी दूसरे को न बनाकर अपने आपको ही दोषी ठहरा लेता है। संसार में जितने सुख और दुख होते हैं, उनका कारण हम हैं। इस तथ्य को समझ जाना जीवन में एक भारी काम सफलता प्राप्त करना है। दूसरों को दोष देने से मनुष्य अपने दुख को कम नहीं कर सकता; दूसरे का सुधार अपने हाथ की बात नहीं।

जब मनुष्य की मनोवृत्ति एकबार अन्तर्मुखी हो जाती है तो मनुष्य अपने स्वरूप के जानने की चेष्टा करने लगता है। बहिर्मुखी चित्तवृति ही तीनों एषणा के रूप में प्रगट होती है। जब तक मनुष्य इन तीनों का दास रहता है न वह दूसरों को, न अपने आपको आन्तरिक शान्ति पहुँचा सकता है। ज्ञानी

पुरुष संसारी लोगों को इन तीनों ऐषणाओं से मुक्त करने की चेष्टा करता है। उसका मन शान्त रहता है। तबतक इसी शान्ति को वह उन सब लोगों को देता है जो उसके सम्पर्क में आते हैं। ज्ञानी पुरुष दूसरों की सेवा अपने शरीर तथा वाक्-शक्ति से ही भले करे, पर उसकी मुख्य सेवा आचरण द्वारा होती है। संसार में ऐसे लाखों लोग मिलेंगे जो तत्त्वज्ञान का निरूपण भली प्रकार से दूसरों के समक्ष कर सकते हैं; पर ऐसा विरला ही पुरुष मिलेगा जिसने उस तत्त्व का स्वयं आस्वादन किया हो। जिस प्रकार भूगोल के शिक्षक भूखण्ड के सब भागोंका वर्णन उन भागों के बिना देखे बड़ी निपुणता के साथ विद्यार्थियों के सामने करते हैं उसी प्रकार पण्डित और दार्शनिक लोग तत्व के स्वरूप का निरुपण बिना उसका वास्तविक ज्ञान के भली प्रकार से कर लेते हैं। पर इन पण्डितों की शिक्षा का प्रभाव श्रोताओं के हृदय पर कुछ भी नहीं होता। वे अपने आचरण से अपने कहे हुये तत्व की सत्यता का खण्डन करते हैं।

मानसिक शक्ति

आधुनिक विज्ञान ने अणु की शक्ति की जो खोज की है उससे हमें अपनी मानसिक-शक्ति का अन्दाज मिलता है। जिस प्रकार जड़ अणु में कल्पनातीत शक्ति है उसी प्रकार चैतन्य अणु में भी कल्पनातीत शक्ति है। जड़ अणु की शक्ति को प्रकाशित करने के लिए उसे मशीनों द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार से तोड़ने की व्यवस्था की जाती है। अणु को तोड़ना कोई साधारण सी बात नहीं है। अणु के तोड़ने के प्रयत्न में कितने ही वैज्ञानिकों की प्रयोग शालाएँ ही उड़ गई हैं। अणु एक बन्द गोली के समान है। इसके भीतर जो परमाणुओं का संगठन है, उसे चलविचल करना बड़ा ही कठिन है। उसके चलविचल होने पर शक्ति का भीषण प्रकाशन होता है।

चैतन्य अणु को भी तोड़ने का परिणाम वही होता है जो कि जड़ अणु के तोड़ने का होता है। जड़ अणु बाहर से तोड़ा जाता है और चैतन्य अणु भीतर से। जिस प्रकार प्रोटर्न के आस पास एलौकट्रन घूमा करते हैं उसी प्रकार अहंभाव के आस पास मानसिक शक्तियाँ घूमा करती हैं। मानसिक शक्तियों के इस प्रकार घूमते रहने से वे सीमित हो जाती हैं। यदि मानसिक शक्तियाँ किसी प्रकार अहंभाव से मुक्त की जा सकें अर्थात् वे स्वतन्त्र रूप से कार्यान्वित होने लगें तो वे सभी प्रकार से आश्चर्य-जनक परिणाम उत्पन्न करें।

जड़ और चैतन्य अणु के संघटन के एक विशेष प्रकार के भेद को ध्यान में रखना आवश्यक है। जड़ अणु देश में विभक्त है; पर चैतन्य अणु देश में विभक्त नहीं है; अतएव सभी चैतन्य अणुओं का केन्द्र एक ही है। कल्पना के द्वारा ही एक ही केन्द्र को अनेक मान लिया गया है। मनुष्यों के व्यक्तित्व में भेद है; उनकी मानसिक शक्तियों में भिन्नता है; किन्तु सभी का मूल केन्द्र एक ही है। अतएव जिस समय व्यक्ति अपने भीतर के कल्पितभेद को दूर करके जब अपनी मानसिक शक्तियों को सभी लोगों के कल्याण के लिए लगाने लगता है तो उसकी शक्तियाँ अपरिमित हो जाती हैं।

मानसिक शक्तियों को परिमित करने वाला भाव स्वार्थ भाव है। किसी भी कार्य का परिणाम उसके हेतु पर निर्भर करता है। जिस कार्य का हेतु किसी विशेष स्वार्थ का साधन होता है, उसका परिणाम अल्पकाल तक रहता है, जिस कार्य का हेतु लोकोपकार होता है उसका परिणाम दीर्घ काल तक ठहरने वाला होता है। लोकोपकारी कार्य करने से चैतन्य अणु की शक्तियाँ एक स्थान पर केन्द्रीभूत न होकर बाहर प्रकाशित हो जाती हैं। जो व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के विषय में जितना ही अधिक उदासीन हो जाता है वह महान कार्य करने की उतनी ही अधिक क्षमता प्राप्त कर लेता है। अहंभाव को नष्ट करना ही मानसिक शक्तियों की सीमा को तोड़ना है। जब चैतन्य अणु की सीमा टूट जाती है तो उसकी शक्ति असीम हो जाती है।

हमारे सभी काम हमारे विचारों पर निर्भर करते हैं। विचारों की शक्ति चालबाजी और चतुराई पर निर्भर नहीं करती, उनकी शक्ति मनुष्य के हेतु पर निर्भर करती है। जिस

विचार का मूल स्रोत महान है वह विचार दूसरों के हृदयों पर ऐसा प्रभाव जमाता है कि वे उसके प्रतिकूल आचरण ही नहीं कर सकते। जो व्यक्ति उच्च भाव से प्रेरित विचार के प्रतिकूल कार्य करते हैं उन्हें पागलखाने में पहुँचना पड़ता है। जो विचार स्वार्थ से मुक्त है वह सब मनुष्यों के हृदयों का प्रेरक बन जाता है। जिस विचार में जितनी ही अधिक स्वार्थपरता पाई जाती है वह उतना ही अधिक शक्तिहीन होता है।

किसी विचार में कहाँ तक स्वार्थपरता है, इसका ठीक ठीक अनुमान करना कठिन काम है। देखने वाले सभी विचारों को स्वार्थमय ही कहेंगे। यह हमारा स्वयं हृदय ही जान सकता है कि हमारा किस विचार में स्वार्थ भाव है और किसमें नहीं। मनुष्य अपने अनुभव के अनुसार ही दूसरों के हेतुओं का अन्दाज लगाता है। अतएव कितने ही साधु, महात्माओं को संसार के चतुर लोग धूर्त समझते हैं। पर इससे उनके विचारों की शक्ति नष्ट नहीं होती। जब तक स्वयं अपने हृदय में कमजोरी नहीं होती आरोपित कमजोरी हमारी कार्य क्षमता को नष्ट नहीं करती।

संसार के महान् व्यक्तियों के जीवन को यदि देखा जाय तो हम उनकी कार्यक्षमता का मूल कारण अपने आपको भूल जाने में ही पायेंगे। भगवान बुद्ध ने तो अनात्मवाद का ही सन्देश दिया है। हम अहंकार से घिरे रहते हैं; और अहंकार को ही आत्मा मान लेते हैं। इस तरह हम सदा अपने आपको दुखी बनाए रहते हैं। अपने आप के भाव का भूल जाना ही दुखों से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है। भगवान बुद्ध ने अपना सारा जीवन लोकोपकार में व्यतीत किया। यही कारण है कि आज भी साठ करोड़ व्यक्ति उनके बताए मार्ग पर चल

रहे हैं। हजरत ईसा ने लोकोपकार में अपने शरीर को भी बलिदान कर दिया। उन्होंने सारा जीवन ब्रह्मचर्य से बिताया और वे सदा लोक-कल्याण में लगे रहे। यही कारण है कि ईसाई धर्म अभी तक जीवित है। मार्टिन लूथर ने जब अपने स्वार्थ को भूलकर लोगों को उनके अन्धविश्वासोंसे मुक्त करने का का संकल्प किया तो उसने यूरोप में धार्मिक विप्लव कर दिया। जो व्यक्ति अपने स्वार्थ को छोड़ कर किसी काम को हाथ में ले लेता है वह उसमें सफलता लाभ अवश्य करता है। उसकी मानसिक शक्तियाँ चमत्कारिक कार्य कर दिखाती हैं। स्वार्थ भाव का त्याग करना अपनी सीमाओं को तोड़ना है। सीमाओं के तोड़ने पर जो परिणाम जड़ अणु के सम्बन्ध में होता है वही परिणाम चैतन्य अणु के सम्बन्ध में भी होता है, अर्थात् उसकी शक्तियाँ इतनी अधिक हो जाती हैं कि उनकी कल्पना ही नहीं की जा सकती।

चैतन्य अणु की शक्ति का प्रकाशित रूप विचार है। जड़ शक्ति जितना काम कर सकती है उससे लाखों गुना अधिक महत्व का कार्य विचार-शक्ति करती है। विचार विद्युत की शक्ति के समान बड़े वेग से एक मनुष्यके मस्तिष्क से दूसरे मनुष्यके मस्तिष्क में चला जाता है। हमारे मनमें इस प्रकार अनेकों विचार आते जाते रहते हैं। इनमें से कुछ हमारे मन पर स्थायी प्रभाव छोड़ जाते हैं और कुछ एक ओर से आकर दूसरी ओर से निकल जाते हैं। जो विचार स्वार्थहीन व्यक्ति के मस्तिष्क से निकलता है वह बड़ा ही प्रभावशाली होता है। वह मनुष्यों के हृदय पर अधिकार जमा लेता है। हम देखते हैं कि बड़े बड़े विद्वानों के विचार

समाज के लोगों को वैसे प्रभावित नहीं करते जैसे एक सरल चित्त वाले निःस्वार्थ व्यक्ति के विचार। इसका प्रधान कारण यह है कि सरलचित्त वाले व्यक्ति ने अपनत्व को छोड़कर किसी विचार को प्रकाशित किया है, वह किसी प्रकार के विचार का अहंकार भी नहीं रखता। वह अपने आन्तरिक विचारों को बिना परिस्थिति की अनुकूलता के विषय में अधिक सोचे विचारे प्रकाशित करता है और यह विचार परिस्थिति में परिवर्तन करने में समर्थ होता है।

मनुष्य की मानसिक शक्तियाँ साधारणतः बिखरी हुई रहती हैं, अतएव उनका साक्षात्कार करना कठिन होता है। हम सदा किसी न किसी विषय पर चिन्तन करते ही रहते हैं। किसी विषय के बारे में बार बार चिन्तन करने से हमारा मन उस विषय में फँस जाता है। जिस विषय के बारे में हम जितना ही रागद्वेषात्मक मनोवृत्तिसे सोचते हैं उसमें हम उतना ही अधिक लिपटते हैं। जब हमारा मन एक बार किसी विषय में पैठ जाता है तो हमारे उसे मुक्त करने के प्रयत्न से भी वह मुक्त नहीं होता। भावपूर्ण किसी विषय का चिन्तन करना ही मानसिक ग्रन्थि को उत्पन्न करता है, जिससे मानसिक अन्तर्द्वन्द की स्थिति उत्पन्न होती है। मानसिक अन्तर्द्वन्द के कारण मनुष्य की सारी आध्यात्मिक शक्ति नष्ट हो जाती है। और वह अशान्त होकर इधर उधर भटकने लगता है। अशान्त मन होना शक्ति के अभाव का सूचक है। जिस मनुष्य के मन के भीतर शान्ति नहीं रहती वह अपने से बाहर शान्ति खोजने की चेष्टा करता है, किन्तु इस प्रकार उसे शान्ति न मिलकर और अधिक दुःख ही मिलता है।

अपनी मानसिक शक्तियों का विकास चित्त की एकाग्रता

से होता है। जिस व्यक्ति का मन सदा इधर उधर दौड़ता रहता है उसकी मानसिक शक्ति व्यर्थ नष्ट हो जाती है। अपने मनको वाह्य विषयोंकी ओर जानेसे रोकनेके लिए विशेष प्रकार के अभ्यास की आवश्यकता होती है। मन किसी विषय पर चिन्तन करने से एकाएक नहीं रोका जा सकता। जो व्यक्ति मनको वाह्य विषयों पर जाने से एकाएक रोकते हैं वे आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त न कर उल्टे विक्षिप्तता के भागी होते हैं। जब तक हमारे मन में वाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति है वह उनके विषय में अवश्य ही चिन्तन करेगा। मनको धीरे धीरे इस प्रकार के चिन्तन से मुक्त करना परम पुरुषार्थ है। इस प्रकार के प्रयत्न से मनुष्य का मन शान्त होता हैं और मनुष्य अपने अन्दर शक्तिकी अनुभूति करने लगता है। किसी प्रकार की मानसिक उद्विग्नता शक्ति के ह्रास की सूचक है। उद्विग्न मन होकर न तो किसी वाह्य-विषय के विषय में सोचना उचित है और न उनसे मुक्त होने के विषय में। उद्विग्न मन होकर लम्बे लम्बे उपवास करना उतना ही बुरा है जितना पेटू होकर दिन भर खाते रहना।

शान्त मन होकर मनुष्य जब अपनी आन्तरिक शक्तियों के विषय में सोचता है तो वह अपने आप में अद्भुत शक्तियाँ पाता है। मनुष्य की मानसिक शक्ति उसके निश्चय की दृढ़ता पर निर्भर करती है और निश्चय की दृढ़ता शान्त मन से अपने आपके विषय में विचार करने पर निर्भर करती है। हम अपने आप की शक्तियों के विषय में स्वयं नहीं जानते। जब अपने निश्चय को दृढ़ करके हम किसी काम में लग जाते हैं तो हमें अपने काम के द्वारा इन शक्तियों की अनुभूति होती है। कितने ही लोग जप, होम, यज्ञ इत्यादि अपने निश्चय को दृढ़

बनाने के लिये करते हैं। मनुष्य का निश्चय जैसा होता है उसे उसी प्रकार की सफलता मिलती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि मानसिक शक्तियों का नाश मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से हो जाता है। यह मानसिक-अन्तर्द्वन्द्व, चिन्ता, भय, संशय आदि मनोवृत्तियों के रूप में प्रकाशित होता है। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का सामान्य कारण अपनी स्वार्थमयी वासनायें हैं। जो मनुष्य अपने स्वार्थ को जितना ही विस्तृत बनाता है उसका मन मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से उतना ही कम पीड़ित होता है। उसे ऐसे अनेक प्रकार के चिन्ता, भय और संशय नहीं सताते जो व्यक्तिगत स्वार्थ से सीमित व्यक्ति को सताते हैं।

मनुष्य की सफलता और विफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसने अपनी स्वत्व की सीमा को कहाँ तक बढ़ाया है। कितने ही लोग अपने स्वत्व की सीमा अपने परिवार तक ही रखते हैं, कितने उस सीमा को गाँव, जाति अथवा सम्प्रदाय तक फैलाते हैं, कुछ लोग अपने व्यक्तित्व का देश भर से ऐक्य कर देते हैं, और जो बात देश के लिए लाभकारी है उसे ही करते हैं; और कुछ लोग अपना स्वार्थ मनुष्यमात्र पर निछावर कर देते हैं और मनुष्यमात्र के स्वार्थ के लिए अपने जीवन का बलिदान करते हैं। जिस व्यक्ति का मन जितनी बड़ी सीमा में घूमता है वह अपने भीतर उतनी ही अधिक शक्ति की अनुभूति करता है। ऐसे व्यक्ति के मन में चिन्ता, भय और संशय, जो ध्वंसात्मक विचार हैं, कम आते हैं। उदार विचार के सामने स्वार्थमय विचार की पराजय होना निश्चित है। चाहे उदार विचार को ग्रहण करने वालों की संख्या स्वार्थी विचार वालों की संख्या से कितनी ही कम

क्यों न हो। प्रत्येक व्यक्ति का आत्मा भला है अतएव वह किसी न किसी समय उदार विचार को ग्रहण कर ही लेता है और दूसरों की हित की बुद्धि से की गई कल्पना धीरे धीरे संसार भर में फैल जाती है।

मानसिक शक्तियों का विकास प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ने से ही होता है। जो मनुष्य जितना अधिक अपने सिद्धान्तों के बल पर प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ता है वह अपनी इच्छा शक्ति को उतना ही दृढ़ बनाता है। प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ने से जो आत्मविश्वास उत्पन्न होता है वह सदा मनुष्य को संकट की अवस्था में काम देता है। बहुत सी प्रतिकूल परिस्थितियाँ कल्पित होती हैं। जब हम ऐसी परिस्थितियों से लड़ने की ठान लेते हैं तो वे इस प्रकार नष्ट हो जाती है जैसे प्रकाश के आते ही छायारूपी भूत नष्ट हो जाते हैं। प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ने पर ही मनुष्य के सिद्धान्तों की और उसके आत्मविश्वास की परख होती है।

मानसिक शक्तियों के विकास का का एक उपाय सरल व्यवहार और सरल विचार हैं। जो लोग दूसरों के साथ व्यवहार करने में बड़ी कुशलता दिखाते हैं वे अन्त में धोखा ही खाते हैं। उनका मन चिन्ता और संशय का निवास-स्थान बन जाता है। वे दूसरों के विषय में सुनी हुई बातों के बारे में अनेक प्रकार का कुचिन्तन करने लगते हैं और इस प्रकार अपनी मानसिक शक्ति का ह्रास कर डालते हैं। चालाक मनुष्य को सभी लोग चालाक ही दिखाई देते हैं। ऐसा मनुष्य किसी भोले भाले व्यक्ति के प्रति भी वैसा ही व्यवहार करता है जैसा कि किसी चालाक व्यक्ति के प्रति। इसके कारण न कोई उसका सच्चा मित्र होता है और न कोई उसे उसके काम में

सच्चा प्रोत्साहन देता है। उसके समीप उसके भलाई चाहने वाले लोग नहीं, वरन् उसकी चापलूसी करने वाले लोग आते हैं। ये लोग उसका अभिमान बढ़ाते हैं और उसे नीचे गिराने की ही चेष्टा करते हैं। अतएव जिस व्यक्ति को अपनी मानसिक शक्ति का विकास करना है उसे अपने व्यवहार में तथा विचारों में सरलता रखनी अत्यन्त आवश्यक है।

चैतन्य अणु की शक्तियाँ अर्थात् हमारी मानसिक शक्तियाँ हमारे निश्चय के अनुसार विकसित होती हैं। चैतन्य अणु की शक्तियाँ अपरिमित है। देश और काल के द्वारा इनकी सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। पर मनुष्य जैसा अपने आपको मानता है उसकी शक्तियाँ उसी प्रकार विकसित होती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान ने निर्देश की शक्ति पर महत्व का प्रकाश डाला है। अपने निर्देश के अनुसार मनुष्य आरोग्यवान अथवा रोगी होता है। दृढ़ इच्छा-शक्तिवाला व्यक्ति अपने मन में किसी प्रकार के अशुभ विचारों को ठहरने नहीं देता, वह उनको मन से बाहर निकाल देता है। इसके प्रतिकूल जिस व्यक्ति की इच्छा-शक्ति दृढ़ नहीं होती वह अशुभ विचारों को अपने मन से बाहर नहीं निकाल सकता। इसके कारण वह अनेक प्रकार के कल्पित अथवा वास्तविक दुःखों से दुःखी होता है। मनुष्य जैसे अपने विचार बनाता है उसका जीवन भी उसी प्रकार बन जाता है। कल्पना वास्तविकता की जननी है। जिन व्यक्तियों के मनसूबे बड़े होते हैं उनका जीवन काल भी दीर्घ होता है। प्रकृति उसी व्यक्ति को जीवन प्रदान करती है जिसको उसे आवश्यकता है अर्थात् जो अपने विचार भले बनाये हुए हैं और सदा दूसरे लोगों के कल्याण के लिए नई नई बातें सोचते रहता है।

मनुष्य की शारीरिक शक्तियाँ परिमित हैं। जैन धर्म में स्वत्व को अनन्त वीर्य अनन्त ज्ञान और अनन्त सुखवाला माना है। ये तीनों शब्द सत्, चिद् और आनन्दके, जिन्हें उपनिषदों में आत्मा के वैकल्पिक लक्षण माना है, पर्यायवाची हैं। मनुष्य अपने भीतर रहने वाली शक्तियोंका अपने निश्चय के अनुसार साक्षात्कार करता है। जो व्यक्ति अपने विषय में जितना अधिक ज्ञान प्राप्त करता है वह उतना ही अपने आपको शक्तिशाली बनाता है। ज्ञान की वृद्धि दो प्रकार से होती है-पुस्तकें पढ़कर और अपने अनुभव से। यह अनुभव भी दो प्रकार का होता है, बाहरी पदार्थोंका और अपने आप का। पुस्तकीय ज्ञान अथवा बाह्य अनुभव की मौलिकता से सभी लोग परिचित हैं, किन्तु अपने आप के विषय में विचार करने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसकी मौलिकता कम लोग जानते हैं। जो व्यक्ति अपने भीतर जितना ही अधिक डूबता है वह उतना ही अधिक मौलिक सत्य को प्राप्त करता है। जिस मनुष्य का चित्त एकाग्र रहता है उसमें दूसरे लोगों को प्रभावित करने, उनके मन के विचार जानने तथा दूसरी घटनाओं को जानने की शक्ति होती है। मनुष्यका मन शरीर तक सीमित नहीं है; वह सब स्थानों में है। जब हम किसी प्रबल विचार को अपने मन में लाते हैं तो वह शब्द में बिना प्रकाशित हुए भी दूर-दूर के लोगों को प्रभावित करता है। हमारे आस-पास ऐसे लोग रहते हैं जिनके मन में आत्म विनाशक भाव चलते रहते हैं। जिस व्यक्ति का मन स्वस्थ है वह अपने आचरण और अप्रकाशित विचारों से दूसरे अस्वस्थ व्यक्तियों को प्रभावित करता है। आत्मविश्वास रखने वाला व्यक्ति और विचार की शक्ति को जानने वाला व्यक्ति

दूसरे व्यक्ति में भी आत्म-विश्वास उत्पन्न कर देता है। दृढ़ इच्छा शक्तिवाले व्यक्ति के विचार सदा आत्म-कल्याण के होते हैं। वह अपने-आप को और दूसरे व्यक्तियों को भी वह सन्निर्देश देता है। इससे उसके सम्पर्कमें आनेवाले व्यक्तियों के विचार आशावादी हो जाते हैं।

अपनी मानसिक शक्ति का बल मनुष्य के हेतु पर निर्भर करता है। जिस व्यक्ति के कामों का हेतु जितना ही ऊँचा रहता है उसके विचार उतने ही रचनात्मक होते हैं। दूसरों के अकल्याण चाहने वाले व्यक्ति के विचार नकारात्मक होते हैं। नकारात्मक विचार दूसरों का विनाश करते हैं, किन्तु अन्त में वे अपना भी विनाश कर डालते हैं। जो तलवार से जीवित रहता है वह तलवार से ही मरता है। क्रूरता कायरता की जननी है।

मानसिक शक्ति का साक्षात्कार

हमारे विचारों में अमित शक्ति है; पर इस शक्ति का साक्षात्कार बिरले ही पुरुष को होता है। अपनी शक्ति में विश्वास न रखने के कारण उस शक्ति को रखकर भी हम उससे लाभ नहीं उठाते। हमारे विचारों की शक्तियाँ या तो व्यर्थ चली जाती है या हमारे प्रतिकूल काम करती है। हम जितना ही विचारों के विषय में अध्ययन करते हैं और विचारों की सफलता के नियमों के अनुसार उन्हें कार्यान्वित करते हैं, उतना ही उन्हें फलीभूत करते हैं और उनकी शक्ति से लाभ उठाते हैं। रोग और स्वास्थ्य, काम में सफलता या विफलता, दूसरे व्यक्ति पर अपना प्रभाव या अप्रभाव, धन-संचय और विनाश सभी बातें हमारे विचार की गति पर निर्भर करती है। अतएव हमें यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि मनुष्य का कौन सा विचार फलित होता है और कौन सा व्यर्थ जाता है। शक्तिहीन विचार को शक्तिशाली कैसे बनाया जा सकता है और किसी विचार की गति अपने ही प्रतिकूल हो जाने पर उसे कैसे अनुकूल दिशा में मोड़ा जा सकता है।

विचार की शक्ति उसकी एकाग्रता पर निर्भर करती है। जब कोई भी विचार सदा एक ही बात पर केन्द्रित रहता है तो वह अवश्य ही फलित होता है। साधारणतः हमारा कोई विचार एकाग्र नहीं होता। विचार की एकाग्रता के लिए सफलता में विश्वास का होना अत्यन्त आवश्यक है। पर

भविष्य के विषय में कौन बात पहले से ही निश्चित हो सकती है? कौन कह सकता है कि कोई घटना एक प्रकार से घटित होगी और दूसरी प्रकार से घटित न होगी। अतएव जिस घटना में मनुष्य का स्वार्थ रहता है उसके विषय में वह चिन्तित रहता है। चिन्ता का अर्थ है सफलता में सन्देह। सन्देह नकारात्मक विचार है; वह जो कुछ सकारात्मक विचार मन बनाता है उन्हें नष्ट कर डालता है। मनुष्य की किसी एक बात में जितनी प्रबल इच्छा होती है, उसके उस बात के सम्बन्ध में नकारात्मक विचार भी उतने ही प्रबल होते हैं। एक ओर उसका चेतन मन एक प्रकार का विचार करता है, तो दूसरी ओर ठीक उसके प्रतिकूल उसके अचेतन मन में भावना उठती है इससे मनुष्य को कार्य में असफलता मिलती है। किसी काम को करने की शक्ति मनुष्य के अचेतन में है। उसके चेतन मन में राय देने का अथवा चिन्तन करने मात्र की शक्ति है। जो बात मनुष्य का अचेतन मन नहीं चाहता वह नहीं होती। जब किसी कार्य को मनुष्य का अचेतन मन नहीं चाहता तो वह अनेक प्रकार के सन्देह उत्पन्न करता है। इस कारण से चेतन मन की विचार धारा एकमुखी होकर नहीं बहती और मनुष्य को सफलता नहीं मिलती।

मनुष्य के चेतन और अचेतन मन में अनुरूपता और विरूपता दोनों प्रकार के सम्बन्ध हैं। चेतन मन का सम्पर्क बाह्य जगत से है, अचेतन मन का सम्बन्ध अन्तर्जगत् से है। मनुष्य का चेतन मन ज्ञाता है, उसका अचेतन मन शक्ति को धारण करता है। व्यक्ति का चेतन मन भोक्ता है, उसका अचेतन मन भोगों का निर्माण करता है। विचार चेतन मन में उठते हैं, उनको फलित अचेतन मन करता है। किसी भी

विचार के दो सिरे होते हैं। एक सिरा सकारात्मक होता है दूसरा नकारात्मक। विचार का सकारात्मक का सिरा बाह्य जगत् से सम्बन्धित रहता है और उसका नकारात्मक सिरा अन्तर्जगत् से। एक चेतन मनमें रहता है तो दूसरा अचेतन मन में। जो विचार मनुष्य के अचेतन मन तक पहुँचता है वही फलित होता है। पर चेतन मन से अचेतन मन में पहुचने तक विचार अपनी विपरीत अवस्था में परिणित हो जाता है। किसी भी विचार के चेतन मन में उठते ही अचेतन मनमें विरोधी विचार उठ जाता है। इस विरोध के कारण कोई विचार फलित नहीं होता। इतना ही नहीं, विरोधी विचार फलित होने के लिए अधिक तत्पर हो जाता है। विचार के फलित होने के लिए यह आवश्यक है कि विरोधी विचार मन में न उठे। पर किसी भी विचार के साथ विरोधी विचार इस तरह जुड़ा रहता है जिस प्रकार किसी वस्तु के दो सिरे।

जब मनुष्य किसी प्रकार की इच्छा करता है और उसके प्रतिकूल भी वह चिन्ता करने लगता है, तो उसकी इच्छा फलित नहीं होती। कितने ही लोग अपनी सफलता के बिषय में आत्म-निर्देश देते हैं; पर उनके निर्देश सन्देहरहित नहीं होते। अतएव वे कई प्रकार के संकटों में पड़ जाते हैं। आत्म-निर्देश रोगों से मुक्त होने का एक बड़ा अचूक उपाय है। परन्तु साधारणतः आत्म-निर्देश से रोगों का नाश न होकर उनकी वृद्धि होती है। थोड़े ही समय में निर्देश की शक्ति में मनुष्य का विश्वास नहीं रहता। इस प्रकार की स्थिति का कारण मनुष्य के अनजाने ही संशय की उपस्थिति होती है। मनुष्य की इच्छा के फलित होनेके पूर्व ही मनुष्य का

सन्देह अचेतन मन में कार्य करने लगता है। इस तरह मनुष्य को सफलता की जगह विफलता ही मिलती है।

मनुष्य को सन्देह क्यों उठते हैं? सन्देह उठने का प्रमुख कारण अपनी शक्ति के विषय में अज्ञान है। जो मनुष्य जितनी ही भोगेच्छाएँ रखता है वह अपनी शक्तियों से उतना ही अज्ञ रहता है। इच्छाएँ मनुष्य की देहात्म-बुद्धि को दृढ़ करती हैं। जितनी ही अधिक मनुष्य की देहात्म बुद्धि दृढ़ होती है उसके सन्देह भी उतने ही दृढ़ होते हैं। इच्छाओं की कमी देहात्मबुद्धि की भी कमी करती है। मनुष्य की इच्छाएँ जितनी ही अधिक विकसित होती है वह उतना ही अधिक अपना स्वरूप जानता है और उसकी शक्ति भी उतनी ही अधिक होती है। जब मनुष्य वैयक्तिक इच्छाओं के फलित होनेके लिए प्रयत्न करता है तो वह अपने आप में उतनी ही शक्ति का अनुभव करता है जितनी कि वैयक्तिक जीवन के लिए आवश्यक है। इससे अधिक शक्ति की जब आवश्यकता होती है तो उसे उसके अस्तित्व में विश्वास नहीं होता। पर जब मनुष्य ऐसी इच्छाओं को फलित करना चाहता है जिनसे उसके वैयक्तिक लाभ के साथ साथ दूसरे लोगों का भी लाभ हो तो वह अपने आप में अधिक शक्ति का अनुभव करता है। उसे अपनी समाज-कल्याण की भावनाओं के सफल होने में सन्देह नहीं होता। जब कोई मनुष्य अपनी सभी प्रकार की इच्छाओं का नाश करके दूसरे लोगों के कल्याण के लिए ही अपना जीवन बना लेता है तो उसके विचार की शक्ति अतुल हो जाती है। दूसरे के कल्याण के लिए किए गए विचार में सन्देह की मात्रा नहीं रहती। दूसरे के कल्याण के विषय में निःस्वार्थ भाव से चिन्तन करना अपने आपका विश्वात्मा

से ऐक्य करना है। जिस व्यक्ति में जितना ही कम स्वार्थभाव होता है उसके विचारों की शक्ति उतनी ही अधिक होती है।

विचारों की शक्ति का साक्षात्कार करने के लिए स्वार्थ भावका त्याग अत्यन्त आवश्यक है। इससे विरोधी विचार की उत्पत्ति नहीं होती। कहा जाता है कि वैद्य घर के रोगी को अच्छा नहीं कर सकता। जब वह स्वयं बीमार पड़ता है तो उसे बाहर से वैद्य बुलाना पड़ता है। उसकी दवाइयाँ शक्तिहीन हो जाती हैं। इस प्रकार की स्थिति का कारण वैद्यकी सन्देह की मनोवृत्ति रहती है। वह अपने-आप अथवा अपने घर के लोगों के विषय में सबसे अधिक चिन्तन करता है। चिन्ता नकारात्मक विचार है यह मनुष्य के प्रयत्न को फलित नहीं होने देती। जब वैद्य रोगी के विषय में स्वार्थ बुद्धि से चिन्तित नहीं होता, तभी वह रोगी को आरोग्य प्रदान करने में सफल होता है। लोभी वैद्य रोगी को स्वास्थ्य प्रदान करने में विफल रहता है। वैद्य जितना ही अधिक निःस्वार्थ भाव से रोगियों की चिकित्सा करता है, उसकी चिकित्सा उतनी ही अधिक सफल होती है। कितने ही लब्ध-कीर्ति मानसिक चिकित्सक तथा वैद्य अपने जीवन के अन्तिम समय में शक्तिविहीन हो जाते हैं। इसका कारण उनके मन में स्वार्थ की वृद्धि है। स्वार्थ की वृद्धि होने पर मनुष्य की उपयोगी निर्देश देने की शक्ति क्षीण हो जाती है; उसे अपनी शक्ति में विश्वास नहीं रहता। इसलिए ही चिकित्सक धनी लोगों की अपेक्षा गरीब लोगों की चिकित्सा में अधिक सफल होते हैं। धनी लोग चिकित्सक को खरीद लेने की चेष्टा करते हैं। वे चाहे जिस रूप में चिकित्सक को द्रव्य दें इसका प्रभाव चिकित्सक के मन पर

अवश्य पड़ता है। इससे चिकित्सक की कार्य-क्षमता अथवा मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है।

मनुष्य की विचार-शक्ति उतनी ही होती है जितनी कि वह उसके विषय में धारणा करता है। जो व्यक्ति अपने विचार को व्यर्थ खर्च कर डालते हैं वे उन लोगों के सदृश दरिद्र बने रहते हैं जो अपनी पैतृक सम्पत्ति का अपव्यय करके दरिद्रावस्था को प्राप्त होते हैं। प्रत्येक विचार जो हमारे मन में आता है, मानसिक शक्ति का संचय अथवा उसका व्यय करता है। सांसारिक विषयों के बारे में आने वाला विचार मनुष्य की शक्ति का अपव्यय करता है। अपने-आपके विषय में आया हुआ विचार मनुष्य की शक्ति का संचय करता है। विचार पर विचार करने से विचार की शक्ति बढ़ती है। विचार में जिस कल्पना को मनुष्य पकड़ता है वह वास्तविकता में परिणत हो जाती है; पर इस प्रकार कल्पना के वास्तविकता में परिणत होने में विचारकी शक्ति खर्च होती है। जब मनुष्य की मानसिक शक्ति खर्च हो जाती है तो उसे अनेक प्रकार की चिन्ताएँ घेरने लगती हैं। वह उनका आगमन नहीं रोक पाता। इससे उसके विचार की शक्ति का और भी ह्रास हो जाता है। चिन्ताग्रसित मनुष्य क्रोधी, चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है। उसे कुछ दिनों में ही कोई शारीरिक अथवा मानसिक रोग पकड़ लेता है। वह अन्त में अपने जीवन को भाररूप बनाकर ढोने लगता है। इस प्रकार उसकी सफलता ही उसके दुःख का कारण बन जाती है। इस स्थिति से बचने के लिए विचार के विषय में विचार करते रहना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार मनुष्य अपनी शक्ति को संचित रखता है।

८

सद्विचार का प्रकाशन

संसार की सबसे मौलिक वस्तु विचार है। मनुष्य के पास यदि सभी प्रकार की सम्पत्तियाँ हैं, पर यदि उसके पास सद्विचार नहीं है तो वह सुखी नहीं रह सकता। वास्तव में विचार हीसम्पत्ति के रूप में परिणत हो जाता है। वाह्य सम्पत्ति की प्राप्ति संकल्प का परिणाम मात्र है। जब मनुष्य के विचार आशायुक्त होते हैं तो वह अनेक प्रकार के उद्योगों में लगता है, ताकि वह सफलता प्राप्त कर सके। इसके प्रतिकूल जब उसके विचार निराशायुक्त होते हैं तो वह अपनी प्राप्त की हुई सम्पत्ति, यश और कीर्ति को खो देता है।

जिस प्रकार विचार से ही वाह्य सम्पत्ति प्राप्त होती है और नष्ट होती है उसी प्रकार उसका उपभोग भी विचार पर निर्भर है। यदि मनुष्य के विचार ठीक नहीं हैं तो उसके पास सुख की सभी प्रकार की सामग्रियाँ रहने पर भी वह दुःखी रहता है। मन में बेचैनी होने से संसार के सभी भोग व्यर्थ जान पड़ते हैं। जिस प्रकार बीमार मनुष्य को सब प्रकार के स्वादिष्ट भोजन बुरे लगते हैं, उसी प्रकार बिगड़े हुए विचार के व्यक्ति को सभी उपभोग बुरे लगते हैं। वास्तव में सुख और दुख मनोवृत्तियों के नाम मात्र हैं। मन अपना दृष्टिकोण बदल कर सुख में दुःख और दुःख में सुख देख सकता है।

यदि विचार ही जीवन की मौलिक वस्तु है तो हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम अपने आप को सुखी बनाने

के लिए भले विचारों को खोज-खोज कर उनका संग्रह करें और उनका मनन करें ताकि वे अपने बन जाँय। कोई भी विचार किसी विशेष व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं है। सभी विचार मनुष्य मात्र की सम्पत्ति हैं। विचारों की चोरी, चोरी नहीं। जो जितना ही दूसरे व्यक्ति के मौलिक विचारों को अपना सके और उनका सदुपयोग कर सके, उतनाही वे विचार उस व्यक्ति के महत्व को बढ़ाते हैं। यदि हम किसी व्यक्ति के विचारों को पूर्णतः अपना बनाकर प्रकाशित करते हैं तो हम उन्हें नवजीवन प्रदान करते हैं। विचारों का जीवन उनके नये-नये ढंग से प्रकाशित होने में है, न कि उनके ज्यों-के-त्यों बने रहने में। जिस प्रकार जीवित शरीर जैसा-का-तैसा ही नहीं बना रहता ,अपितु काल के अनुसार परिवर्तित होता रहता है, उसी तरह जीवित विचार भी सदा विकसित होता रहता और नए स्वरूप में हमारे समक्ष आता रहता है।

सभी भले विचारों का स्वागत करते रहना हमारा कर्तव्य है। इस प्रकार के स्वागत करते रहने से हम अपने विचारों में सदा वृद्धि करते रहते हैं और उन में नवीनता लाते रहते हैं। जब हम किसी व्यक्ति के विचार को जाने हैं तो हमारा यह कर्तव्य है कि हम उस पर मनन करें, हम यह जानने की चेष्टा करें कि उसमें सत्य कहाँ तक है और उसके सत्य की परख अपने अनुभव की कसौटी पर करें। सम्भव है कि हमारे विचार और इस नए विचार में विषमता हो। नए विचार पर मनन करने के परिणाम-स्वरूप हमारे पुराने विचारों में कुछ न कुछ परिवर्तन होता है। यदि नया विचार सर्वथा हमारे पुराने विचार के अनुरूप हो तो भी उसका स्वागत करना आवश्यक है, क्योंकि कम से कम यह विचार नए रूप से तो हमारे सामने आया

है। दूसरे लोगों के विचारों को अपना जैसा ही जानकर हम अपने विचारों की मौलिकता और भी समझ जाते हैं। किसी भी विचार के प्रथम आगमन से उसकी मौलिकता नहीं जानी जाती। विचार की मौलिकता का ज्ञान उस पर मनन करने का परिणाम है। जो मनुष्य दूसरे व्यक्ति के विचारों को इकट्ठा मात्र करता रहता है और उन पर मनन नहीं करता वह उन विचारों से मौलिक लाभ नहीं उठाता। जिस प्रकार कृपण मनुष्य धन का अभिमान करता है, किन्तु उसका उपभोग नहीं करता, उसी प्रकार पोथी-पण्डित ज्ञान से अधिक लाभ नहीं उठाता। धन का उपभोग करने के लिए उसका उपार्जन करना आवश्यक है; इसी तरह विचारों का संग्रह भी उन पर मनन करने के लिए आवश्यक है। पुस्तकों का पढ़ना मनुष्यमात्र का धर्म है ; इसी तरह सत्संग करते रहना हमारा धर्म है। इस भाँति भले विचारों की वृद्धि होती है। पर सदा पुस्तकों को ही पढ़ते रहना और उनपर स्वतन्त्र विचार न करना, विद्वानों का समुचित आदर करना नहीं है। इसी के लिए विद्वानों के विचारों पर मनन करना आवश्यक है।

विचारों को नये रूप से प्रकाशित करना विचारों को अपनाने की एक विधि है। दूसरे व्यक्ति से प्राप्त मौलिक विचारों को अपनी तरह से प्रकाशित करने से वे विचार हमारी समझ में भली प्रकार से आते हैं। जो व्यक्ति किसी विचार को कई बार और कई प्रकार से प्रकाशित करता है वह उतना ही अधिक उस विचार को समझता है और उससे अपने-आपको लाभ पहुँचाता है। मनोविज्ञान का यह मौलिक सिद्धान्त है कि ज्ञान की वृद्धि और उसका प्रकाशन एक दूसरे पर अवलंबित हैं। जिस ज्ञान का जितना अधिक प्रकाशन हम करते हैं

उसकी वृद्धि उतनी ही अधिक होती है। विद्या दूसरों को देने से कम नहीं होती, वरन् दिन-प्रतिदिन बढ़ती रहती है। जो विद्या पहले-पहल एक अपरिचित व्यक्ति के सदृश हमारे समक्ष आती है, उसमें रस लेने से वह अपनी ही बन जाती है। जब तक हम किसी प्रकार के विषय में रस नहीं लेने लग जाते तब तक हम उसके अधिकारी नहीं होते। रस लेने पर हम स्वभावतः अपने अनुराग के विषय की ही चर्चा करते हैं।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि किसी भी विषय को भली-भाँति जानने के लिए उस विषय को दूसरों के समक्ष रखना तथा उन्हें समझाने की चेष्टा करना आवश्यक है। जो शिक्षक किसी विषय का अध्ययन मात्र करते हैं और उसे विद्यार्थियों को पढ़ाते नहीं, वे उसे भली-भाँति नहीं जान पाते। इसलिए योग्य शिक्षक किसी भी विषय का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के हेतु उसे पढ़ाना स्वीकार कर लेते हैं। विद्यार्थियों के प्रश्न पर प्रश्न करने पर ही शिक्षक के ज्ञान की वृद्धि होती है और वह विषय को भली प्रकार से अपने अधीन समझने लगता है।

जिन व्यक्तियों को अपने प्रिय विषय को विद्यार्थियों को पढ़ाने का अवसर नहीं मिलता, उन्हें उसे लिख कर विद्वान जनता के समक्ष रखना आवश्यक है। कोई भी विचार थोड़े ही काल तक मन में रहता है। यदि उसके संस्कार हमारे मन में दृढ़ न हों तो वह सदा के लिए हमारे मन से चला जाता है। विचार के संस्कार स्थायी बनाने के लिए उसका प्रकाशन नितान्त आवश्यक है।

सद्विचारों का प्रकाशन दूसरी दृष्टि से भी परमावश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को किसी-न-किसी प्रकार समाज की सेवा करनी चाहिए। हम जब तक जीवित रहते हैं तब तक

कुछ-न-कुछ संसार की सम्पत्ति को नष्ट करते हैं। उसके बदले यदि हम संसार या समाज को कुछ नहीं देते तो हम चोरी ही करते हैं। बुद्ध भगवान् का कथन है कि तप्त लोहे के पिण्ड को मुँह में डालना भी विना राष्ट्र की सेवा किये उसका धन खाने से भला है। जब तक हम जीवित हैं हमें सदा राष्ट्र की कुछ-न-कुछ सेवा करते ही रहना चाहिए।

राष्ट्र की सेवा कई प्रकार से हो सकती है। हम उसका धन-धान्य बढ़ा सकते हैं, बीमारों की सेवा सुश्रुषा कर सकते हैं। पर इन सब सेवाओं से अधिक मौलिक सेवा राष्ट्र में सद्-विचार का प्रचार करना है। राष्ट्र में सद्विचारों की कमी होने पर उसका धन-धान्य भी नष्ट हो जाता है और अनेक प्रकार की बीमारियाँ आकर उसे घेर लेती हैं। किसी भी व्यक्ति को कोई एक दो दिन मुफ्त में खिला सकता है, पर वह उससे जन्म भर खुशी नहीं रह सकता। जन्म भर खुशी रहने के लिए स्वावलम्बी बनना आवश्यक है। दूसरों के सहारे जीवित रहनेवाले व्यक्ति को हम धन देकर स्वावलम्बी नहीं बना सकते; हम उसके विचारों में परिवर्तन कर के ही स्वाव-लम्बी बना सकते हैं। इसी प्रकार उचित विचारों के अभाव में आरोग्य लाभ किया हुआ व्यक्ति फिर से रोग-ग्रसित हो जाता है। जो स्वस्थ है उसे अपने स्वास्थ्य को बनाए रखने में भी सद्-विचार की आवश्यकता है। बीमारियों का आगमन रोकना मनुष्यों की उतनी ही महत्व की सेवा है जितनी की उनका एक-बार आ जाने पर निवारण।

यदि हम संसार के महान् पुरुषों की सेवा का निरीक्षण करें तो उसको भले विचारों के प्रचार के अतिरिक्त और कुछ न पावेंगे। उन्होंने एक ओर प्रचलित अभद्र

विचारों का नाश करके सेवा की और दूसरे ओर ऐसे नये विचारों को दिया जिनसे मनुष्यों में उत्साह और आत्म-विश्वास की वृद्धि हुई। जितनी भी संसार की क्रान्तियाँ हुईं, उनके मूल में सदा किसी महान् पुरुष का नया विचार ही था। जो व्यक्ति जितना मौलिक विचार संसार को देता है, वह उतना ही बड़ा है। मौलिक विचार अपना निजी विचार है। उस में अपने अनुभव की नवीनता होती है। पुराना विचार ही नए रूप से प्रकाशित होने पर नया बन जाता है।

कितने ही लोग अपने नए विचारों का आधार खोजने की चेष्टा करते हैं और जब तक वे अपने विचारों का आधार किसी महान् पुरुष के कथन में अथवा किसी धर्म की पुरानी पुस्तक में नहीं पा लेते तब तक उन्हें उसकी मौलिकता में विश्वास नहीं होता। इस प्रकार की मनोवृत्ति आत्मविश्वास की कमी दर्शाता है। नये विचार को नये तरह से कहना ही भला होता है। संभव है कि वही विचार कभी किसी दूसरे व्यक्ति ने भी पहले कहा हो। पर इससे उसकी नवीनता नहीं जाती। हम जितना ही अधिक उसकी नवीनता का अनुभव कर सकते हैं उतना ही भला है, क्योंकि इससे हम उतने ही अधिक लगन के साथ उसका प्रचार करेंगे।

अपने किसी भी भले विचार को तुच्छ समझना अपने प्रति अन्याय करना है। जो व्यक्ति अपने मनमें आये हुए नए विचारों का स्वागत नहीं करता, और उसकी मौलिकता को अनुभव की कसौटी को छोड़ और किसी दूसरी तरह से परख करता है वह संसार की कोई भी मौलिक सेवा नहीं करता। हमारा ही विचार हमारे काम आता है। संकट पड़ने पर हमारी

पठित विद्या हमारे काम नहीं आती, किन्तु हमारा विश्वास और निश्चय ही हमारे काम आते हैं।

अनुभव की कसौटी पर कसे गये विचारों का प्रचार करना ही राष्ट्र की सबसे मौलिक सेवा है। विचार ही दुर्जन को सज्जन बनाते हैं, दुःखी को सुखी बनाते हैं, और निर्बल को बल प्रदान करते हैं। अतएव दूसरे लोगों के द्वारा प्रकाशित नये विचारों का स्वागत करना मात्र ही पर्य्याप्त नहीं, वरन् उनका प्रचार करना और अपने सद्विचारों का प्रचार करना मनुष्यों में श्रेष्ठ कहे जाने वाले लोगों का परम कर्तव्य है।

६

प्रेम की शक्ति

संसार की सभी घटनाओं में दो शक्तियाँ काम करती हैं—प्रेम और घृणा। एक सृष्टि का निर्माण करती है और दूसरी उसका विनाश। महात्मा सुकरात के पूर्वज तत्ववेत्ताओं का विचार भी ऐसा ही था। प्रेम के कारण अणु एक दूसरे के समीप आते हैं और आपस में मिलकर नये पदार्थों की उत्पत्ति करते हैं। जब घृणा का प्रभाव बढ़ता है तब ये पदार्थ अलग-अलग होने लगते हैं और इस प्रकार सृष्टि का विनाश हो जाता है। जिस प्रकार प्रेम के कारण अणु आपस में मिलते हैं और घृणा के कारण अलग हो जाते हैं, इसी प्रकार प्राणी तथा मनुष्य भी प्रेम से ही प्रभावित हो एक दूसरे से मिलते हैं तथा घृणा के कारण अलग होजाते हैं। प्रेम से सृष्टि का निर्माण होता है और घृणा से विनाश।

संसार की सब प्रकार की सृष्टि का कारण प्रेम ही है। चाहे यह सृष्टि जड़ पदार्थों की हो अथवा विचारों की। जिस शक्ति को हम लोहे में चुम्बक-शक्ति के रूप में काम करते देखते हैं, जिस शक्ति के कारण पृथ्वी सब पदार्थों को अपनी ओर आकर्षित करती है, जिस शक्तिको गुरुत्वाकर्षण, स्नेहाकर्षण, रसायनाकर्षण आदि नामों से पुकारा गया है वह प्रेम की शक्ति है। गुरुत्वाकर्षण का नियम कहता हैकि प्रत्येक पदार्थ अपने परिमाण के अनु-

सार अपने आस-पास के पदार्थों को अपनी ओर आकर्षित करता है। जो पदार्थ जितना समीप है, उस पर उतना अधिक उसके आकर्षण का प्रभाव पड़ता है। संसार के प्रत्येक पदार्थों की स्थिति में यही नियम कार्य करता है और यही नियम उनकी अनेक क्रियाओं में भी काम करता है। गुरुत्वाकर्षण ही जड़ पदार्थों की स्थिति का आधार है। यह आधार प्रेम के अतिरिक्त दूसरा और कुछ नहीं है।

प्रेम दो व्यक्तियों को एक दूसरे के समीप लाता है। स्त्री-पुरुष के मिलन में प्रेम ही काम-शक्ति बन जाता है। काम-शक्ति संसार की सृष्टि करती है। फ्रायड महाशय का कथन है कि काम-शक्ति ही मनुष्य के जीवन की मूलशक्ति है। यही शक्ति प्रेम के रूप में प्रकट होती है। दो बालकों के प्रेम में तथा दो प्रौढ़ व्यक्तियों के प्रेम में चाहे वे समलिंगी हों, अथवा विषमलिंगी कामलिप्सा ही कार्य करती है। पिता-पुत्री, माता-पुत्र सभी के प्रेम में काम-लिप्सा रहती है। ईश्वर-भक्ति आदि में भी यही काम-भावना काम करती है।

हमारा विचार है कि फ्रायड महाशय का उपर्युक्त सिद्धान्त भ्रमात्मक है। प्रेम-शक्ति, काम-भावना से अधिक व्यापक-शक्ति है। काम-लिप्सा उसका एक क्षुद्र रूप है। स्त्री-पुरुष के मिलन मात्र में काम-भाव रहता है; पर दो मित्र एक दूसरे से काम-भाव के कारण ही नहीं मिलते; वे विचार-सामञ्जस्य के कारण भी मिलते हैं। जड़ पदार्थों में भी एक दूसरे के प्रति आकर्षण देखा जाता है। क्या यह आकर्षण काम-शक्ति का आकर्षण है? एक दूसरे के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है। इस आकर्षण का परिणाम क्या होगा—यह आकर्षित वस्तुओं के स्वभाव पर तथा दूसरी परिस्थितियों पर निर्भर करता है। जब इस आक-

र्षण का परिणाम ज्ञान-शक्ति का उद्दीपन होता है तब नये विचारों की सृष्टि होती है। जिस प्रकार सच्चे मन से आपस में प्रेम करने वाले स्त्री-पुरुष से समाज को सुशोभित करने वाली सुन्दर सन्तान पैदा होती है; उसी प्रकार सच्चे प्रेम से जब गुरु-शिष्य का मिलन होता है तब संसार की भलाई करने वाले सुन्दर विचारों का निर्माण होता है। कहा जाता है कि बिना गुरू के ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार बिना योग्य शिष्य के गुरू का ज्ञान गुप्त ही रह जाता है। उससे संसार की भलाई नहीं होती। इतना ही नहीं बिना प्रकाशन किये, अर्थात् श्रद्धा के साथ किसी योग्य शिष्य को समझायें बिना, किसी विद्वान् का ज्ञान परिपक्व ही नहीं होता। जो ज्ञान का वितरण जितना ही अधिक करता है उसे उतना ही अधिक ज्ञान आता है। ज्ञान-वितरण में प्रेम का प्रभाव ही देखा जाता है। ज्ञानी पुरुष के हृदय में नये विचार प्रेम के कारण ही आते हैं।

जिस प्रकार प्रेम सृष्टि का निर्माण करता है, उसी प्रकार घृणा उसका संहार करती है। जिस घर में स्त्री-पुरुष में आपस में प्रेम नहीं रहता वह घर नष्टप्राय है। घृणा करने वाले व्यक्ति न केवल दूसरों के नाश के लिए उद्यत रहते हैं, अपितु वे अपने-आप का भी नाश कर लेते हैं। घृणा ही क्रोध का रूप धारण कर लेती है। क्रोध विनाशकारी भाव है। जब क्रोध फलित होता है, तो वह किसी बाह्य पदार्थ का नाश करता है, जब फलित नहीं होता है तब वह आत्मा को ही अपना आश्रय बना लेता है। इस स्थिति में मनुष्य हाथ-पैर पटकने लगता है, सिर धुनने लगता है केशों को पकड़कर खींचने लगता है और पहनने के कपड़े फाड़ डालता है। यदि इससे भी शांत न हुआ तो वह आत्म-हत्या कर डालता है। हमें यहाँ विचार करना है कि प्रेम की भित्ति

अथवा आधार क्या है और उसका अभाव कैसे हो जाता है। हम यह जानते हैं कि एक प्राणी दूसरे से मिलने के लिए उत्सुक रहा करता है। यहाँ मिलने की लालसा कहाँ से आई; इस रहस्य को जड़वादी बुद्धि से समझना असम्भव है। जब यूनानके प्रसिद्ध जड़वादी तत्ववेत्ता डेमेट्रियस ने यह कहा कि सारी सृष्टि स्वतन्त्र अणुओं से बनी है, तो उसे यह समझाने में कठिनाई पड़ी कि ये अणु जिनका स्वभाव अलग-अलग है, वे एक दूसरे से कैसे मिले। अणुओं को एक दूसरे से मिलाने वाले एक ऐसे तत्व की कल्पना करना आवश्यक होता है जो सभी अणुओं में समान रूप से व्याप्त है। वास्तव में स्वतन्त्र अणु से सृष्टि-निर्माण की कल्पना करना तर्कशून्य तथा विवेक-हीन विडम्बना है।

जिस प्रकार कोई अणु स्वतन्त्र नहीं है अपितु एक अणु दूसरे में पिरोया हुआ है, इसी तरह कोई भी व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है। सभी व्यक्तियों की आत्मा एक ही है। प्रेम का अनुभव इसी एकता का अनुभव है। जड़ पदार्थ अनेक हैं, चैतन्य एक है। भेदबुद्धि का दूसरा नाम घृणा है। एकता के भाव का दूसरा नाम प्रेम है। प्रेम भेद को मिटाता है, घृणा उसे कायम रखती है। प्रेम परमात्मा की ओर ले जाता है, मनुष्य को जड़ता से मुक्त करता है, उसे अमरत्व प्रदान करता है। घृणा अहंकार को दृढ़ करती है, मनुष्य को जड़ बुद्धि बनाती है और मृत्यु की ओर ले जाती है। परार्थ-बुद्धि प्रेम की जननी है; स्वार्थ-बुद्धि घृणा की जननी है। प्रेम से व्यष्टि-बुद्धि का विनाश होता है तथा समष्टि-बुद्धि का उदय होता है। प्रेमी अपने प्रिय के लिए अपने को मिटा देना चाहता है। वह अपने को खो देता है। पर इस तरह वह अपने प्रिय के

हृदय में बस जाता है। जिससे आप वास्तव में प्रेम करते हैं, उस पर आपका अधिकार अवश्य हो जाता है। आप जैसा कहेंगे, वह वैसा ही करेगा। स्त्री-पुरुष में मनोमालिन्य का कारण प्रेमाभाव ही है। प्रेम के वश में होकर जो त्याग किया जाता है वह त्याग जाना ही नहीं जाता। उस त्याग की स्मृति दुःखदायी न होकर सुखदायी होती है। प्रेम से पाया हुआ कष्ट, कष्ट नहीं सुख हो जाता है। जिस प्रकार पारस लोहे को छूते ही उसे सोने में परिणित कर देता है, उसी प्रकार प्रेम के स्पर्श से सब प्रकार का दुःख, सुख बन जाता है।

जब प्रेम और घृणा में संघर्ष होता है, तब प्रेम की ही विजय होती है। जो मनुष्य सच्चे मन से अहिंसावृत्ति का पालन करता है, संसार का कोई व्यक्ति उसका कुछ नहीं कर सकता। बुद्धदेव ने इसी अहिंसा पाठ को वर्षों पहले भारतवर्ष को पढ़ाया था। हमारे अन्य महात्मागण भी इसी सत्य को अपने जीवन में चरितार्थ किये थे। महात्मा बुद्ध के जीवन की एक घटना यहाँ उल्लेखनीय है।

महात्मा बुद्ध एक बार अयोध्या के प्रसेनजित राजा के यहाँ गये। एक दिन सायंकाल उन्होंने अयोध्या से चलने का विचार किया। वे एक दूसरे गाँव जाना चाहते थे। अयोध्या और दूसरे गाँव के बीच एक जंगल था जिसमें एक बड़ा डाकू रहता था। वह यात्रियों का धन छीन लेता और उन्हें जान से भी मार डालता था। इस बार उसने एक हजार व्यक्तियों को एक साल में मार डालने का निश्चय किया था। उसके निश्चय का आखिरी दिन विजयादशमी थी। उस समय तक उसने नौ सौ निन्यानबे व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया था। वह उनके हाथ की अंगुलियों को काटकर उसकी माला बनाकर पहनता था।

इसीलिए उसका नाम अंगुलिमाल पड़ा था। दशहरे का दिन बीतने को आया था। प्रण-भंग की आशंका हुई, इसलिए उसने निश्चय किया कि वह अपनी माता को ही मार डालेगा। जिस समय बुद्ध भगवान् जंगल में पहुँचे वह अपनी माँ को ही मारने जा रहा था। बुद्धदेव को देखते ही वह बहुत प्रसन्न हुआ और दौड़कर उन्हें मारने को आया। उसे अपनी ओर दौड़ते देखकर भगवान् ने हाथ से रुकने का संकेत किया, पर उसने दौड़ना बन्द न किया। बुद्धदेव भी उसी मुद्रा में खड़े रहे। वह नरघातक डाकू बाकी रात दौड़ता ही रहा, पर बुद्धदेव तक न पहुँच पाया। वह उनसे जितने गज के फासले पर था उतनी ही दूरी पर बना रहा। जब दौड़ते-दौड़ते बिल्कुल थक गया तो वह जमीन पर गिर पड़ा। तत्पश्चात् बुद्ध भगवान् ने उसे धर्मोपदेश दिया। यही अंगुलिमाल बाद को एक बहुत बड़ा अर्हत् (सिद्ध) बन गया। इस तरह हम देखते हैं कि जहाँ वास्तविक प्रेम होता है, वहाँ घृणा के लिए स्थान नहीं रहता। दुर्बुद्धि, सुबुद्धि, में परिणत हो जाती है। यदि हमें कोई मारने आवे तो मार भी नहीं पाता। भगवान् बुद्ध उस समय उस पापी का उद्धार करने के लिए वहाँ गये थे। यदि वे उस समय जंगल में न जाते तो अंगुलिमाल अवश्य ही अपनी माता का बध कर डालता तथा उसे ज्ञान-लाभ न होता। बुद्ध भगवान् उस पापी के प्रति मैत्री-भावना रखते थे। उसे वे प्रेम करते थे। इसलिए वह उन्हें मार नहीं पाया।

प्रेम के दिव्य प्रभाव से हिंसक जन्तुओं में भी आश्चर्यजनक परिवर्तन हो जाता है। लार्ड रिपन के समय रेमिंगटन नाम का एक अंग्रेज फौज में नौकरी करने विलायत से आया। वह किसी बड़े कुटुम्ब का था। एक दिन शिमला के पहाड़ों

में वह शिकार करने गया। शिकार के पीछे उसे दौड़ते-दौड़ते रात हो गई। वह रास्ता भूल गया, इधर उसके बन्दूक की गोलियां भी समाप्त हो गईं। इसी समय एक भयानक शेर गुर्राता हुआ दौड़ा। वह बेचारा अपनी जान लेकर भागा, पहले उसने सोचा कि किसी पेड़ पर चढ़ जाऊँ पर पैर में जूता होने के कारण वह यकायक पेड़ पर चढ़ न सका। इसी बीच में उसने एक साधु को एक पेड़ के नीचे ध्यान लगाए बैठा देखा। वह उस साधु के वदन से लिपट गया। साधू की आँखे खुल गईं। उसने एक ओर उस अंगरेज को अपने से लिपटा पाया और दूसरी ओर शेर की भयानक चिग्धाड़को सुना। साधु जी ने अपने कमण्डल से जल लेकर कुछ दूर तक छिड़क दिया। शेर साधु जी के समीप तो आ गया पर उस छिड़काव से बाहर ही रहा। इस चमत्कार को देख कर वह अंगरेज विस्मित हो गया। जब सवेरा हुआ तो उसने उस साधु का स्थान पूछना चाहा। साधु ने न तो धर्मोपदेश दिया न स्थान ही बताया। कुछ दिन बाद वह अंगरेज साढु हो गया। उस महात्मा की अहिंसा ने इस तरह एक ओर शेर के स्वभाव में परिवर्तन कर दिया और दूसरी ओर उस अंगरेज में भी। दोनों ही हिंसक थे और दोनों ही थोड़े काल के लिए तो अवश्य अहिंसक बन गये। मनुष्य बुद्धिमान प्राणी है इसलिए उस अंग्रेज में स्थायी परिवर्तन हो गया। पशु बुद्धिरहित है इसलिए उसमें थोड़े ही काल के लिए परिवर्तन हुआ।

जिन लोगों का जीवन मैत्री-भावना के नित्य अभ्यास में व्यतीत होता है, उनके स्मरण मात्र से हमारा-मन पवित्र हो जाता है। यदि हमारा मन प्रेम-मय है तो हम संसार की कुछ

में भलाई करने वाला अपना आत्मा ही है। यह सभी प्राणियों में एक है। जो उसकी ओर जाता है उसे संसार की घटनाएँ भली मालूम होती हैं, जो उससे विमुख होता है उसे वे घटनाएँ बुरी दिखाई पड़ती हैं। प्रेम ही परमात्मा की प्राप्ति का साधन है। परमात्मा का प्रकाश प्रेम है। कारण कार्य की एकता होती है, अतएव प्रेम ही परमात्मा है।

१०

उदारता

मनुष्य के व्यक्तित्व को आकर्षक बनाने वाली यदि कोई वस्तु है तो वह उदारता है। उदारता प्रेम का परिष्कृत रूप है। प्रेम में कभी कभी स्वार्थ भावना छुपी रहती है। कामातुर मनुष्य अपनी प्रेयसी से प्रेम करता है, पर जब उसकी प्रेम वासना को तृप्ति हो जाती है, तो वह उसे भुला देता है। जिस स्त्री से कामी पुरुष उसके यौवन काल और आरोग्य अवस्था में प्रेम करता है उसी को वृद्धावस्था में अथवा रुग्णावस्था में तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगता है। पिता का पुत्र के प्रति प्रेम, मित्र का अपने मित्र के प्रति प्रेम, तथा देश भक्त का अपने देशवासियों के प्रति प्रेम में स्वार्थ भाव छिपा रहता है। जब पिता का पुत्र से, भाई का भाई से, मित्र का मित्र से तथा देश-भक्त का देशवासियों से किसी प्रकार का स्वार्थ साधन नहीं होता तो वे अपने प्रिय जनों से उदासीन हो जाते हैं। पर जिस प्रेम का आधार उदारता होता है वह इस प्रकार नष्ट नहीं होता। उदार मनुष्य दूसरे से प्रेम अपने स्वार्थ साधन के हेतु नहीं करता, वरन् उनके कल्याण के लिये ही करता है। उदारता में प्रेम सेवा का रूप धारण करता है। प्रेम का इस प्रकार दैविक रूप प्रकाशित होता है।

उदार मनुष्य दूसरे के दुख से स्वयम् दुःखी होता है। उसे अपने दुःख सुख की चिन्ता नहीं रहती; उसे दूसरे के दुःख

सुख की चिन्ता रहती है। भगवान् बुद्ध अपने दुःख की निवृत्ति के हेतु संसार का त्याग कर जंगल में नहीं गये थे, वरन् संसार के सभी प्राणियों को दुःखों से विमुक्त करने के विचार से राज-प्रासाद छोड़ जंगल को गये थे, ऐसे व्यक्ति ही नर-श्रेष्ठ कहे जाते हैं।

उदारता से मनुष्य की मानसिक शक्तियों का अद्भुत विकास होता है। जो व्यक्ति अपने कमाये धन का जितना अधिक दान करता है, वह अपने आप में और धन कमा सकने का उतना ही अधिक आत्म-विश्वास पैदा कर लेता है। सच्चे उदार व्यक्ति को अपनी उदारता के लिये कभी भी पश्चाताप नहीं करना पड़ता। उदार व्यक्ति को आत्मभर्त्सना नहीं होती। सेवा-भाव से किया गया कोई भी कार्य मानसिक दृढ़ता ले आता है। इसके कारण सभी प्रकार के वितर्क मन में उथल-पुथल पैदा न करके शान्त हो जाते हैं। अनुदार व्यक्ति अनेक प्रकार का आगा पीछा सोचता है; उदार व्यक्ति इस प्रकार का आगा पीछा नहीं सोचता। भले काम का परिणाम भला होता ही है, चाहे वह किसी व्यक्ति के प्रति क्यों न किया जाय। इससे एक ओर भले विचारों का संचार दूसरों के मन में होता है, और दूसरी ओर अपने विचार भी भले बनते हैं।

प्रकृति का यह अटल नियम है कि कोई भी त्याग व्यर्थ नहीं जाता। जानबूझ कर किया गया त्याग सूक्ष्म आध्यात्मिक शक्ति के रूप में अपने ही मन में संचित हो जाता है। यह शक्ति एक प्रामेसरी नोट के समान है जो कभी भी भँजाया जा सकता है। सभी लोगों को भविष्य का सदा भय लगा रहता है। वे इसी चिन्ता में लगे रहते हैं कि जब वे कुछ काम न कर

सकेंगे तो अपने बाल बच्चों को क्या खिलायेंगे अथवा अपनी आजीवका को किस प्रकार चलावेंगे। कितने ही लोगों को अपनी शान बनाये रखने की चिन्ता ही सताती रहती हैं। उदार व्यक्ति को इस प्रकार की चिन्तायें नहीं सताती। जब वह गरीब भी रहता है तब भी वह सुखी रहता है। उसे भावी कष्ट का भय ही नहीं होता। संसार के अनुदार व्यक्ति जितने काल्पनिक दुःखों से दुःखी रहते हैं, वास्तविक दुःखों से दुःखी नहीं होते। प्रसिद्ध अंग्रेजी नाटककार शेक्सपियर का यह कथन मनन योग्य है कि कायर पुरुष मरने के पहले ही अनेक बार मरता है, और वीर पुरुष जीवन में एक बार ही मरता है। वीर पुरुष काल्पनिक मौत का उपभोग नहीं करता। इसी प्रकार उदार पुरुष के मन में वे अशुभ विचार नहीं आते जो सामान्य लोगों को सदा पीड़ित किया करते हैं।

यदि कोई मनुष्य अपने आप गरीबी का अनुभव करता है तो इसकी चिन्ता से मुक्त होने का उपाय धन-संचय करने लग जाना नहीं है। धन-संचय के प्रयत्न से धन का संचय तो हो जाता है, पर मनुष्य धन की चिन्ता से मुक्त नहीं होता। वह धनवान होकर भी निर्धन बना रहता है। जब धन संचित हो जाता है तो उसके मन में अनेक प्रकार के अकारण भय उत्पन्न होने लगते हैं। उसे भय हो जाता है कि कहीं उसके सम्बन्धी, मित्र, पड़ौसी आदि ही उसके धन को न हड़प लें और उसके बाल बच्चे उसके मरने के बाद भूखों ही न मरें। वह अपने ऐसे अनेक कल्पित शत्रु उत्पन्न कर लेता है, जिनसे रक्षा के वह अनेक प्रकार केउपाय सोचता रहता है। धन-संचय में अति लगन हो जाने पर उसके स्वास्थ्य का विनाश हो जाता है, उसकी संतान की शिक्षा भली प्रकार से नहीं होती और वह

निकम्मी और चरित्र हीन हो जाती है। इस प्रकार उसका धन-संचय का प्रयास एक ओर उसकी मृत्यु को समीप बुला लेता है और दूसरी ओर धन के विनाश के कारणों को भी इकट्ठा कर लेता है। अतएव धन-संचय का प्रयत्न अन्त में सफल न होकर विफल ही होता है।

जो व्यक्ति गरीबी का अनुभव करता है, उसके लिये अपनी गरीबी की मानसिक स्थिति के विनाश का उपाय अपने से अधिक गरीब लोगों की दशा पर चिन्तन करना और उनके प्रति करुणा-भाव का अभ्यास करना ही है। अपने से अधिक गरीब लोगों की धन से सेवा करने से अपनी गरीबी का भाव नष्ट हो जाता है। फिर मनुष्य अपने भाग्य को न कोसकर अपने आप को भाग्यवान मानने लगता है। उसकी भविष्य की चिन्तायें नष्ट हो जाती हैं और उसमें आत्म-विश्वास उत्पन्न हो जाता है। इस आत्म-विश्वास के कारण उसकी मानसिक शक्ति बढ़ जाती है। मनुष्य के संकल्प की सफलता उसकी मानसिक शक्ति के ऊपर निर्भर करती है। अतएव जो व्यक्ति उदार विचार रखता है उसके संकल्प सफल होते हैं; उसका मन प्रसन्न रहता है। वह सभी प्रकार की परिस्थियों में शान्त मन रहता है। उसका स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है और वह जिस काम को हाथ में लेता है उसको पूरा करने में वह समर्थ होता है। उसकी अकारण मृत्यु भी नहा होती। दीर्घजीवी होने के कारण उसकी संतान दूसरों की आश्रित नहीं बनती।

जिस व्यक्ति के विचार उदार रहते हैं और जो सदा अपने आपको दूसरों की सेवा में लगाये रखता है, उसके आसपास के लोगों के विचार भी उदार हो जाते हैं। स्वार्थी मनुष्य की

संतान निकम्मी ही नहीं, वरन् क्रूर भी होती है। ऐसी संतान माता पिता को कष्ट देती है। इसके प्रतिकूल उदार मनुष्य की संतान सदा माता पिता को प्रसन्न रखने के काम करती है। जब उदारता के विचार मनुष्य के स्वभाव का अंग बन जाते हैं, अर्थात् वे उसके चेतन मन को ही नहीं वरन् अचेतन मन को भी प्रभावित कर देते हैं, तो वे अपना प्रभाव छोटे बच्चों और दूसरे सम्बन्धियों पर डालते हैं। इस प्रकार हम अपने आस पास उदारता का वातावरण बना लेते हैं और इससे हमारे मन में अद्भुत् मानसिक शक्ति का विकाश होता है।

विद्या के विषय में कहा जाता है कि वह जितनी ही अधिक दूसरों को दी जाती है वह उतनी ही अधिक बढ़ती है। देने से किसी वस्तु का बढ़ना, यह विद्या के विषय में ही सत्य नहीं है धन और सम्मान के विषय में भी सत्य है। युधिष्ठिर महाराज के राजसूय यज्ञ में विदाई और दान का भार दुर्योधन को दिया गया था और कृष्ण ने स्वयम् लोगों के स्वागत का भार लिया था। कहा जाता है कि दुर्योधन को यह कार्य इसलिए सौंपा था जिससे कि वह मनमाना धन सभी को दे। पर जितना धन वह बिदाई में दूसरों को देता था उससे चौगुना धन तुरन्त युधिष्ठिर के खजाने में आ जाता था। कृष्ण सभी अतिथियों का स्वागत करते समय उनका चरण पखारते थे। इसके परिणाम स्वरूप उन्होंने अपना सन्मान खोया नहीं वरन् और भी बढ़ा लिया। जब राज-सभा हुई तो एक शिशुपाल को छोड़ सभी राजाओं ने कृष्ण को ही सर्वोच्च आसन के लिए प्रस्तावित किया। जो अपने धन को ज़ितना दूसरों के हित में लगाता है वह

उसे उतना अधिक पाता है और जो अपने मान अपमान की परवाह नहीं करता वही संसार में सबसे अधिक सम्मानित होता है।

स्वार्थ-भाव मनमें छोभ उत्पन्न करता है और उदारता का भाव शीतलता उत्पन्न करता है। यदि हम अपने जीवन की सफलता को आन्तरिक मानसिक अनुभूतियों से मापें तो हम उदार व्यक्ति के जीवन को ही सफल पावेंगे। मनुष्य की स्थायी सम्पत्ति धन, रूप अथवा यश नहीं है; ये सभी नश्वर हैं। उसकी स्थायी सम्पत्ति उसके विचार ही हैं। जिस व्यक्ति के मन में जितने अधिक शान्ति, सन्तोष और साम्यभाव लाने वाले विचार हैं वह उतना ही अधिक धनी है। उदार विचार मनुष्य की ऐसी सम्पत्ति है जो आपत्ति काल में उसकी सहायक होती है। अपने उदार विचारों के कारण उसे आपत्ति काल आपत्ति के रूप में नहीं आता; उदार मनुष्य सभी परिस्थितयों को अपने अनुकूल देखने लगता है।

उदार मनुष्य के मन में भले विचार अपने आप ही उत्पन्न हो जाते हैं। इन भले विचारों के कारण सभी प्रकार की निराशायें नष्ट हो जाती हैं, और उदार मनुष्य सदा उत्साहपूर्ण रहता है। उदार मनुष्य आशावादी होता है। निराशावाद और अनुदारता का जिस प्रकार सहयोग है, इसी प्रकार उदारता का सहयोग आशावाद और उत्साह से है। जब मनुष्य अपने आप में किसी प्रकार की निराशा की वृद्धि होते देखे तो उसे समझना चाहिये कि कहीं न कहीं उसके विचारों में उदारता की कमी हो गई है। अतएव इसके प्रतिकार स्वरूप उसे उदार विचारों का अभ्यास करना चाहिये। वह अपने समीप रहने वाले व्यक्तियों से

ही इसका प्रारम्भ करे। वह देखेगा कि थोड़े ही काल में उसके आस पास दूसरे ही प्रकार का वातावरण उत्पन्न हो गया है। उसके मन में फिर आशावादी विचार आने लगेंगे। जैसे जैसे उसका उदारता का अभ्यास बढ़ेगा उसका उत्साह भी उसी प्रकार बढ़ता जायगा। इससे यह प्रमाणित होता है कि मनुष्य उदारता से कुछ खोता नहीं, अपितु कुछ न कुछ प्राप्त ही करता है।

कितने ही लोग कहा करते हैं कि दूसरे लोग हमारी उदारता से लाभ उठाते हैं। वास्तव में वह उदारता उदारता ही नहीं, जिसके लिये पीछे पश्चात्ताप करना पड़े। स्वार्थवश दिखाई गई उदारता के पीछे ही इस प्रकार का पश्चात्ताप होता है। सच्चे हृदय से दिखाई गई उदारता कभी भी पश्चात्ताप का कारण नहीं होती। उसका परिणाम सदा भला ही होता है। मान लीजिये, कोई व्यक्ति हमारे उदार स्वभाव से लाभ उठाकर हमें ठगता है तो इससे हमारा आध्यात्मिक पतन नहीं होता, इससे हमारा आध्यात्मिक लाभ ही होता है। यह आध्यात्मिक लाभ कुछ ही काल में भौतिक सफलता का रूप धारण कर लेता है। मनुष्य का सांसारिक दिवालियापन उसके आध्यात्मिक दिवालियेपन का परिणाम मात्र है। अतएव अपने ठगे जाने का भय व्यर्थ और मूर्खता पूर्ण है। जिस प्रकार दो और दो मिलाकर चार ही होते हैं, तीन नहीं होते; इसी प्रकार किसी भी सद्भावना से प्रेरित कार्य का परिणाम भला ही होता है, वह कदापि बुरा नहीं होता। किसी भी कार्य का दो प्रकार का परिणाम होता है :—एक वाह्य और दूसरा आन्तरिक। अपने कार्य का मूल्य वाह्य परिणाम से आंकना एक प्रकार की नादानी है।

शुभ कार्य का बाह्य परिणाम कभी अनुकूल होता है और कभी प्रतिकूल; पर उसका आन्तरिक परिणाम सदा भला ही होता है। यह परिणाम उस कार्य के हेतु में ही निहित है। भले हेतु से किया गया कार्य मन में भलाई उत्पन्न करता है और अपने मन को भला बनाता है। अपने विचारों को सुधारना यही परम् पुरुषार्थ है।

११

मैत्री-भावना

भगवान् बुद्ध ने मैत्री-भावना के अभ्यास के ग्यारह फल बताये हैं। जो मनुष्य सर्वत्र मैत्री-भावना का अभ्यास करता है, वह सुख की नींद सोता है, सुख पूर्वक सोकर उठता है, बुरे स्वप्नों को नहीं देखता, मनुष्यों का प्रिय होता है, देवता उसकी रक्षा करते हैं, उसकी आग, विष या हथियार से कभी कुछ हानि नहीं होती और उसका आकार सदा प्रसन्न रहता है।

मैत्री-भावना के अभ्यास से निर्भीकता आती है। जिस प्रकार के विचार हम दूसरे व्यक्ति के विषय में अपने मन में लाते हैं दूसरा व्यक्ति भी हमारे विषय में वैसे ही विचार लाता है। यदि हम दूसरे व्यक्ति का नुकसान करना चाहते हैं तो दूसरा व्यक्ति भी हमारा नुकसान करना चाहता है। जिस प्रकार मैत्री-भावना के अभ्यास से हमारा आत्म-प्रसार होता और हममें साहस आता है, इसी तरह अमैत्री-भावना के अभ्यास से निराशा और भय की उत्पत्ति होती है। मैत्री-भावना मनुष्य के मन को शान्त बनाती है और अमैत्री-भावना उसे अशान्त बनाती है।

मनुष्य के स्वप्न उसके नित्य प्रति के अभ्यास पर निर्भर करते हैं। सोते समय के विचारों का मनुष्य की नींद, स्वप्न तथा स्वास्थ पर भारी प्रभाव पड़ता है। मनुष्य जिस प्रकार के विचारों को लेकर सोता है उसी प्रकार के उसे स्वप्न होते हैं और उसी प्रकार के विचार जागने पर उसके मन में उदय होते हैं। मैत्री-

भावना का अभ्यास करते हुये जो मनुष्य सोता है उसे सुख की नींद आना स्वाभाविक है। यदि वह स्वप्न देखेगा तो वे मित्रों के स्वप्न होंगे। अमैत्री-भावना के अभ्यास करते हुये सोने से मनुष्य को भयंकर स्वप्न आना स्वाभाविक है। वह यदि मनुष्यों के स्वप्न देखेगा तो वे ऐसे होंगे जो उसे अनेक प्रकार की पीड़ा देते हैं। जिन लोगों से मनुष्य ईर्ष्या या द्वेष रखता है, अथवा जिन्हें दुःख देना चाहता है उनसे उसे भय रहता है। यह भय या तो प्रत्यक्ष होता है या अदृश्य। जब यह भय अज्ञात होता है तो एक ओर मनुष्य अपनी बहादुरी की बड़ी डींग मारता है और दूसरी ओर वह अपने में उत्साह की कमी पाता है। ऐसा व्यक्ति अपने आपको स्वप्न में अनेक प्रकार के संकट में पाता है। कभी वह पहाड़ पर से पटका जाता है, कभी पानी में डुबाया जाता है, कभी उस पर घातक जानवर आक्रमण करते हैं और कभी वह अपने आपको रोग में फँसा हुआ पाता है। इस प्रकार के स्वप्न उसकी अमैत्री-भावना के परिणामस्वरूप होते हैं।

अमैत्री-भावना का अभ्यास मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की अभद्र भावनायें उत्पन्न करता है। अमैत्री-भावना के विचार मनुष्य के मन में अकारण चिन्तायें और भय उत्पन्न कर देते हैं। इन चिन्ताओं के कारण मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है। जिस मनुष्य के हृदय में जितनी सद्भावना रहती है उसका हृदय उतना ही शान्त रहता है और उसकी इच्छा-शक्ति उतनी ही दृढ़ होती है। इच्छा-शक्ति का बल मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के कारण नष्ट हो जाता है। यह अन्तर्द्वन्द्व ईर्ष्या और द्वेष के विचारों से उत्पन्न होता है। जब मनुष्य की इच्छा-शक्ति का बल नष्ट हो जाता है तो किसी काम को हाथ में लेते ही उसके मनमें अनेक प्रकार की उत्साह-नाशक कल्पनायें

उठने लगती हैं। इन कल्पनाओं के कारण मनुष्य को अपनी सफलता में विश्वास नहीं होता। इससे किसी काम को लगन से करना उसे असम्भव है।

अमैत्री-भावना का अभ्यास करने वाले व्यक्ति को किसी काम को प्रारम्भ करते ही अनेक प्रकार के असगुन हो जाते हैं। ये असगुन उसके उत्साह को भंग कर देते हैं। जब ब्रूटस और कैशियस मार्क एन्टोनी से लड़ने गये तो उन्हें मार्ग में अनेक प्रकार के असगुन हुये। इन असगुनों पर उनकी दृष्टि जाती थी और वे उनके मनमें अनेक प्रकार के कायरता के विचार उत्पन्न करते थे। अन्त में उनका प्राणान्त आत्महत्या के द्वारा हुआ। जिन मनुष्यों को किसी काम के करने के पूर्व अधिक असगुन होते हैं उन्हें हमें स्वार्थी और द्वेषी ही समझना चाहिये। मनुष्य के जिस प्रकार के आन्तरिक विचार होते हैं उसे उसी प्रकार के बाहरी दृश्य भी दिखाई देते हैं। अपनी सफलता के विषय में अधिक चिन्तित रहने वाले व्यक्तियों को असफलता का भय रहता है। इस भय के कारण उनकी दृष्टि ऐसी घटनाओं की ओर जाती है जो अशुभ सूचक है और उनके उत्साह को भंग करती हैं।

मनुष्य का प्रतिक्षण का विचार उसके व्यक्तित्व को बनाता है। वीर पुरुष के प्रतिक्षण के विचार आशायुक्त होते हैं और कायर व्यक्तिके प्रतिक्षण के विचार निराशाजनक होते हैं। वह अपने आपको भारी संकटों से ही घिरा हुआ पाता है। जब हम अपने चारों ओर शत्रु ही शत्रु पाते हैं तो हमारा धैर्य नष्ट हो जाता है और जल्दी में आकर हम कुछ का कुछ कर बैठते हैं। जो मनुष्य जितना ही अधिक भविष्य के विषय में सोचता रहता है, वह उपना ही अपने को संकटों से घिरा हुआ पाता है।

मनुष्य की कल्पनायें वास्तविकता में परिणत हो जाती हैं। अमैत्री-भावना की अवस्था में शुभ कामनायें आना सम्भव नहीं। ऐसी अवस्था में मनुष्य का आत्म-विश्वास भी नष्ट हो जाता है। अतएव सामान्य घटना को भी वह भारी आपत्ति समझ कर उससे घबड़ा उठता है। इस प्रकार वह अपनी सफलता को भी विफलता में परिणत कर देता है।

अमैत्री-भावना स्वाथ परायणता से उत्पन्न होती है और मैत्री भावना चित्त की उदारता से। स्वार्थी मनुष्य चाहे कितना ही शान्त ऊपर से क्यों न दिखाई दे, भीतर से सुखी नहीं रहता। उसके मनमें अनेक प्रकार के अकारण भय उत्पन्न होते रहते हैं। वह पहले तो समाज के अन्य लोगों को ही अपना शत्रु समझता है। उसे डर रहता है कि उसे कहीं दूसरे लोग धन अथवा अधिकार से वंचित न कर दें। अतएव वह अपने कल्पित शत्रुओं के विनाश के लिये अनेक प्रकार के षडयंत्र रचा करता है। पर इस प्रकार के षडयंत्र रचने से उसके मन की दशा दयनीय हो जाती है। भयभीत अवस्था में रहने वाले व्यक्ति को सुख की नींद नहीं आती। उसे भले लोग भी अपने दुश्मन दिखाई देते हैं। वह उनसे सदा सतर्क रहता है और इस प्रकार उन्हें अपना शत्रु बना लेता है।

अमैत्री-भावना रखने वाले व्यक्ति में अपने शत्रु से युद्ध करने का सामर्थ्य भी नहीं रहता। युद्ध के सफल संचालन के लिये शान्त मन की आवश्यकता होती है। वही व्यक्ति युद्ध में सफलता पाता है जो अपने पक्ष की सच्चाई में पूर्ण विश्वास रखता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक धर्म-बुद्धि से प्रेरित होकर युद्ध करता है वह उतना ही वीरता से लड़ता है। कायर मनुष्य कभी-कभी युद्ध से जी बचाने के लिये

उदारता और मैत्री-भावना का ढोंग रचता है ; पर स्वार्थ-परायणता और उदारता अथवा सच्ची दया एक साथ सम्भव नहीं। डर के कारण जो क्षमा की जाती है उसका प्रतिपक्षी के मन पर उल्टा ही प्रभाव पड़ता है। प्रेम से प्रेरित अहिंसा ही सच्ची अहिंसा है ; प्रेम-विहीन अहिंसा कायरता का आवरण मात्र है। इस प्रकार की अहिंसा राजनीति में प्रयुक्त होती है, पर इससे और आध्यात्मिक उन्नति से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार की अहिंसा से मानसिक दृढ़ता नहीं आती। अपने प्रतिपक्षी की शुभ कामना करना और उसके दृष्टिकोण को समझने की चेष्टा करना सच्ची अहिंसा है। इस प्रकार की मैत्री-भावना का अभ्यास मनुष्य को शौर्य प्रदान करता है। जिस प्रकार प्रेम का साथ शौर्य से है उसी प्रकार द्वेष का साथ भय और कायरता से है।

मनुष्य की कार्य-क्षमता उसकी मानसिक शक्ति पर निर्भर करती है। यह मानसिक शक्ति मनुष्य को अपने आपको सब प्राणियों से ऐक्य करने से प्राप्त होती है। जिस मनुष्य का अहंकार जितना अधिक होता है, उसके शत्रु भी उतने ही अधिक होते हैं। वह अपनी कल्पना में अनेक प्रकार के शत्रु बना लेता है। ऐसी अवस्था भी उसकी मानसिक शक्ति अकारण चिन्ताओं में ही खर्च हो जाती है। स्वार्थी मनुष्य को स्वयं प्रकृति अधिक शक्ति नहीं देती। वह उसे विनाश की ओर ही ले जाती है।

१२

मानसिक समीकरण

पिछली शताब्दी के अमेरीका के एक महान पुरुष इमर्सन महाशय ने कहा है कि हर एक अच्छाई का बुरा अंग और हर एक बुराई का अच्छा अंग अवश्य होता है। प्रकृति मनुष्य के व्यक्तित्व में सदा संतुलन लाने की चेष्टा करती है। हर एक देन के साथ एक न एक बुराई पैदा कर देती है। इसी तरह हर एक बुराई के साथ किसी न किसी गुण की देन प्रकृति की ओर से अवश्य ही होता है। प्रत्येक हानि का लाभ व लाभ की हानि होती है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने इस बात को मनुष्य की विशेषताओं के सम्बन्ध में सिद्ध कर दिखाया है। जब किसी व्यक्ति में किसी बात की विशेषता आ जाती है और वह इस विशेषता को अनुभव करने लगता है तो वही उसके चिन्ता का कारण हो जाती है। यही चिन्ता यदि समाज मेंकोई विशेष स्थान प्राप्त करने के लिए हो, तो वह धीरे धीरे इतनी बढ़ हो जाती है कि ऐसे आदमी को पागलखाने में भेजने की नौबत आ जाती है। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति अपने किसी कमी की अधिक चिन्ता करने लगे तो यह कमी वैयक्तिक अति-पूर्ति के द्वारा पूरी होने लगती है। जिस व्यक्ति में शारीरिक आकर्षण नहीं रहता उसमें कोई न कोई ऐसा विशेष गुण आ जाता है जिसके कारण अनायास ही सब लोग उसकी ओर आकर्षित होने लगते हैं और उसकी प्रशंसा करने लगते हैं।

हेनरी फिशर महाशय ने मनुष्य के व्यक्तित्व की बढ़ाव की तुलना बढ़ते हुये पेड़ से की है। जब वृक्ष किसी एक दिशा में अधिक बढ़ जाता है तो वह अपना सन्तुलन खो देता है। इस सन्तुलन को बनाये रखने के लिए वह पेड़ दूसरी ओर बढ़ना शुरू करता है। पर जब बढ़ाव रोकने का प्रयत्न किया जाता है, तो वह गिर जाता है। पेड़ की तरह व्यक्तित्व का भी नाश हो जाता है। मनुष्य के अन्दर दो प्रतिद्वन्द्वी भावनायें चलती रहती हैं—वह अपने नाम और यश की चिन्ता करता है, और वह अपनी शादी करके गृहस्थ जीवन व्यतीत करना चाहता है। यदि पहले की पूर्ति की चिन्ता की जाती है तो दूसरी भावना का दमन करना पड़ता है। इस दमन के कारण एक तरह का मानसिक खिंचाव पैदा होता है जिसके कारण तरह-तरह की मानसिक अशान्ति और बीमारियाँ पैदा होती हैं। इस कारण जो व्यक्ति शादी इसलिए नहीं करता है कि वह भोग विलास और अभिमान का स्वतन्त्र जीवन बिताये, वह अपने स्वाभाविक सन्तानोत्पति की अभिलाषा को दबाता है और ऐसे व्यक्ति को पागल खाने की शरण लेनी पड़ती है।

फिशर महाशय ने ऊपर कहे हुये सिद्धान्त की पुष्टि के लिए एक बहुत ही रोचक उदाहरण रखा है। एक नव युवक देखने में बड़ा ही सुन्दर था और वह एक प्रखर बुद्धि-वाला व्यक्ति था। उसे बहुत सी स्त्रियाँ प्रशंसात्मक दृष्टि से देखती थीं। अपने विशेष गुणों के कारण पुलिस की नौकरी में उसने एक उच्चपद प्राप्त कर लिया था। वह यह तो चाहता था कि नव युवतियाँ उसे प्रेम करें पर वह स्वयं विवाह बन्धन से मुक्त रहना चाहता था। थोड़े समय के बाद एक अति

सुन्दर स्त्री ने, जिसे वह नव युवक प्यार करने लगा था, ब्याह का प्रस्ताव किया। पर वह नव युवक अपने को स्वतन्त्र रखने के दृढ़ निश्चय पर डटा रहना चाहता था। वह किसी एक स्त्री से ही जीवन पर्यन्त बँधा रहना पसन्द नहीं करता था। उस स्त्री को बहुत ही गुस्सा आया। उसने उसे अपमानित करने के लिए तुरन्त ही किसी दूसरे व्यक्ति से शादी कर ली। वह यु‌वक इससे बहुत लज्जित हुआ। अपने विचारों को भुलाने के लिए उसने शराब पीना शुरू किया और खुले आम वेश्याओं के यहाँ जाना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे वह अपने अन्दर नपुंसकता का अनुभव करने लगा और एक वेश्या ने उसे सचमुच नपुंसक ठहरा कर डाँट दिया।

इस घटना के पश्चात् उस नव युवक को ऐसा लगने लगा कि हरएक आदमी उसकी शिकायत किया करता है। नपुंसकता का विचार रात दिन उसके मन में आने लगा। वह अपने मित्रों के सामने आने से डरने लगा। उसने कई मनोविश्लेषकों की सहायता ली। मनोवैज्ञानिक उपचारों का उसके मन पर अच्छा प्रभाव पड़ा, पर वह इस उपचार को कई दिन तक जारी न रख सका, क्यों कि थोड़े ही दिनों के बाद वह समझने लगा कि वह अच्छा हो गया है। दो ही महीनों के पश्चात् वह अनुभव करने लगा कि अब वह बिलकुल स्वस्थ है और वह अपने को सबसे बड़ा आदमी समझने लगा। उसे अन्त में उसे पागलखाने की शरण ही लेनी पड़ी।

इस नव युवक ने जानबूझकर अपनी सन्तानोत्पत्ति की इच्छा का घोर दमन किया। कुछ हद तक उसे नाम अथवा यश प्राप्त हुआ। पर जब यश और नाम उसके जीवन का ध्येय ही हो गया और उसने अपनी सामाजिक भावनाओं की अवहेलना

करना शुरू किया और काम-वासना का दमन किया तब प्रकृति ने अपने सारे दिये गुणों का हरण कर लिया और उसे सजा देने के लिए पागलखाने में भिजवा दिया।

लेखक का एक मित्र जिसके अन्दर व्यक्तित्व के आकर्षक गुणों का समावेश न था, बहुत ही परिश्रम करने लगा। उसने हिन्दी साहित्य का खूब अध्ययन किया और उस साहित्य में उसने बहुत ही उत्तम रचनात्मक कार्य किया। साहित्यिक लोगों में उसका बड़ा नाम व सम्मान होने लगा, पर उसे भ्रम हो गया कि उसके कार्यों का उचित सम्मान नहीं हो रहा है, साहित्यिक उसके खिलाफ हो गये हैं और वे सदा उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं। ये बातें सोचकर वह अपने को ही कोसता हुआ समय के पूर्व ही इस संसार से बिदा हो गया। एक हिन्दी के नामी कवि में भी इसी प्रकार की बीमारी हो गई है। उन्हें अपनी योग्यता की हद से अधिक चेतना होने लगी थी। सन्तानोत्पत्ति की इच्छा का उन्होंने दमन किया था। जिस व्यक्ति के अन्दर यह भावना आ जाती है कि वह सब से बड़ा है वह दूसरों से दूर रहने लगता है। वह लोगों से मिलना जुलना अपनी शान के खिलाफ समझता है। जब वह समाज को तुच्छ दृष्टि से देखने लगता है और लोगों को अपने सामने तुच्छ चीज समझने लगता है तो उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि अन्य लोग भी उसे क्षुद्र और घमण्डी समझने लगे हैं। वह चारों तरफ से अपने को शत्रुओं से घिरा हुआ समझता है और स्वयं ही अपने नाश का कारण बन जाता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि हम किस प्रकार इस अवस्था में से बच सकते हैं? एक उत्तर है कि कभी किसी को आत्म-

प्रसिद्धि के लिए कोई कार्य नहीं करना चाहिए। पर यह अस्वाभाविक सा लगता है, क्योंकि प्रकृति ने हरएक व्यक्ति को कुछ न कुछ विशेषता दी है और यदि वह व्यक्ति उन विशेषताओं का उपयोग नहीं करता है तो संसार की हानि ही होती है। यदि प्रत्येक व्यक्ति एक ही ढंग से कार्य करे और इस संसार से उदासीन हो जाय तो निश्चय ही यह संसार नीरस हो जायगा और इस तरह समाज की उन्नति रुक जायगी। प्रकृति का उद्देश्य है कि समाज में एकता हो न कि समानता। इसलिए उसने हरएक को कुछ न कुछ विशेषता दी है ताकि वह उन विशेषताओं को बढ़ा कर संसार का कल्याण कर सके। अतः व्यक्तित्व में सब प्रकार की गड़बड़ी रोकने के लिए यह आवश्यक है कि सब तरह के कार्य इस ढंग से किये जायँ जिससे संतुलन बना रहे। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार काम करना चाहिए तथा अपने आपमें ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

धार्मिक आत्म-निर्देश के द्वारा भी मानसिक समीकरण प्राप्त किया जा सकता है। जो व्यक्ति सदा यह आत्म-निर्देश किया करता है कि व्यक्तिगत रूप अनन्त विश्व में उसकी कुछ गिनती ही नहीं है और उसका तेज सर्वव्यापी तेजोमय परमात्मा का छायामात्र है उसका अहंभाव दबा रहता है। ऐसा व्यक्ति कभी भी अभिमान से फूलता नहीं और ऐसा ही व्यक्ति मानसिक शान्ति का अनुभव कर सकता है। यही सारी मानसिक विषमता का उपचार है।

१३

मुफ्त खोरी की आदत

संसार के बहुत से मनुष्यों में मुफ्तखोरी की आदत पाई जाती है। यदि बिना परिश्रम के हमें कहीं से धन प्राप्त हो जाय तो हम बड़े प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार की स्वाभाविक प्रवृत्ति प्रायः सभी लोगों में होती है; अभ्यास के द्वारा ही इस प्रवृत्ति को नष्ट किया जाता है। मुफ़्तखोरी किसी भी व्यक्ति में धीरे धीरे बढ़ती है। जब यह प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है तो इसका दमन करना कठिन हो जाता है। कितने ही मुफ़्तखोर लोग अपने इस दोष को देख ही नहीं सकते और कितने इसे अपने चरित्र का दोष न मानकर गुण मान लेते हैं। बिना किसी वस्तु का पूरा मूल्य चुकाये उसका उपभोग करना मुफ़्तखोरी है।

मुफ़्तखोरी के अनेक प्रकार हैं। दूसरे व्यक्ति से किसी अनुग्रह को प्राप्त करना, दान ग्रहण करना, पड़े हुये पैसे को उठा लेना, गड़े धन को पाने की इच्छा करना, जुआ और लॉटरी से पैसा प्राप्त करने की चेष्टा करना, उधार सामान लेना, ठगना और चोरी करना मुफ़्तखोरी के ही विभिन्न प्रकार हैं। उक्त सभी क्रियाओं से मनुष्य को अन्त में कष्ट उठाना पड़ता है। इससे मुफ़्तखोर मनुष्य की सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की हानि होती है।

जब हम किसी व्यक्ति का किसी प्रकार का अनुग्रह प्राप्त कर लेते हैं तो हम प्रसन्न होते हैं; पर हमें शीघ्र ही पता चलता

है कि हमने भारी भूल की है। तुरन्त ही हमें ज्ञात हो जाता है कि अनुग्रह के लेते ही हमारा पद नीचा हो जाता है और अनुग्रह के देनेवाले का पद ऊँचा हो जाता है। उसका सामान्य व्यवहार भी कटु हो जाता है। लेखक एक बार अपने धनी मित्र के साथ उसके खर्चे से कुछ शहरों की सैर करने गया। इस मित्र का सदा समता का भाव रहता था। पहले ही दिन इस भाव में परिवर्तन देखा गया। लेखक दूसरे दिन बीमार हो गया और उसे शीघ्र ही अपने मित्र का साथ छोड़ना पड़ा। जो लोग अपने मित्रों का अथवा पड़ोसियों का अनुग्रह प्राप्त करते रहते हैं वे अपनी आत्म-सम्मान की भावना को खो देते हैं। दूसरे के अनुग्रह प्राप्त करने से डरने वाले व्यक्ति को ही दूसरे लोग अनुग्रहीत करनेको उत्सुक रहते हैं। जो व्यक्ति अनुग्रह को सहर्ष स्वीकार करता है वह फिर शीघ्रता से अनुग्रह को प्राप्त भी नहीं करता। इमरसन महाशय का यह कथन मनन योग्य है कि किसी वस्तु को दूसरे से माँगना ही उसकी सबसे ऊँची कीमत चुकाना है*। मुफ्तखोर को सभी लोग घृणा करने लगते हैं। जिस मनुष्य से कुछ मिलने की आशा होती है उसे सभी लोग प्यार और आदर करते हैं; जिससे सदा हानि ही होती है उसे सभी घृणा और अनादर की दृष्टि से देखते हैं। अपने आप को समाज का प्रिय बनाने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि हम सदा समाज का कुछ न कुछ लाभ करते रहें। यदि किसी मित्र के घर जायँ तो उसे कुछ देकर ही आवें, उसके समय को व्यर्थ खर्च न करें।

---

* "The highest price that you can pay far a thing is to ask for it".

दान ग्रहण करना मुफ्तखोरी का नग्न रूप है। भिखमङ्गों के समान आदरविहीन कोई दूसरा व्यक्ति नहीं होता। बुद्ध भगवान् का भिक्षुओं को आदेश था कि वे समाज की सेवा किये बिना उसका अन्न न खायँ। उनका कथन है कि तप्त लोहे के गोले खाना राष्ट्र की सेवा किये बिना उसका अन्न खाने से भला है। यदि भिक्षु लोग समाज की सेवा करते हैं तो उन्हें समाज की सेवा प्राप्त करने का अधिकार है, अन्यथा वे इसके अधिकारी नहीं। इस आदेश के कारण बौद्ध देशों के भिक्षु जिन लोगों से अन्न प्राप्त करते हैं उनके बच्चों को बौद्धिक तथा नैतिक शिक्षा देते हैं और प्रौढ़ लोगों को ज्ञान उपदेश करते हैं। हमारे देश के साधुओं और ब्राह्मणों ने समाज में अपना सम्मान दान ग्रहण करने की आदत डाल लेने के कारण खो दिया है

जो लोग दान लेना अपना पेशा ही बना लेते हैं उनके समान पतित कोई दूसरा व्यक्ति नहीं हैं। हमारे तीर्थ स्थानों में ंडों की भरमार है। तीर्थ स्थान प्रायः साधुओं से रिक्त रहते हैं, पर पंडे लोगों से भरे रहत हैं। ये लोग जितने क्रूर कर्मा होते हैं, कोई दूसरे लोग उतने नहीं होते। जैसे मुफ्त में उन्हें धन मिलता है, वे उसी प्रकार उसे खर्च भी करते हैं। तीर्थ स्थानों की वेश्यायें इन्हीं लोगों से पलती हैं। किसी यात्री से उनकी आशाके अनुसार यदि वे धन प्राप्त न करें तो वे उसका सिर फोड़ने अथवा मार डालने के लिये तैयार रहते हैं। इन लोगों से देश की किसी प्रकार की भलाई की आशा करना व्यर्थ है। हमारे धर्म का भाव ही देश में एक पाप के भार का निर्माण कर देता है।

हमारे देश में विद्यार्थियों को पढ़ाई के समय सहायता देने की प्रथा चली आई है। संस्कृत के विद्यार्थी तो बिना किसी

खर्च के विद्या प्राप्त करते हैं। उन्हें भोजन भी धनी लोगों के क्षेत्रों से मिलता हैं। इन विद्यार्थियों में आत्म-सन्मान के भाव का प्रायः अभाव पाया जाता है। जिस व्यक्ति को विद्यार्थी काल में जैसी आदत पड़ जाती है वह आदत जन्म भर रहती है। विद्यार्थी काल में सहर्ष दान ग्रहण करनेवाले विद्यार्थी जन्म भर भिखमंगों की मनोवृत्ति को ही बनाये रखते हैं। दूसरों की सेवा करने की भावना उन में उत्पन्न ही नहीं होती। वे अपना आदर तो पहले ही खो चुकते हैं, अतएव यदि कोई उनका अनादर करे तो भी वे उसके दरवाजे जाते ही रहते हैं।

अंग्रेजी में कहावत है कि कदाचित ही दान से पला बालक संसार में उन्नति करता है। पहले तो मुफ्तखोरी की आदत पड़ जाने के कारण वह अपने पैर पर खड़े होने और कठिन परिश्रम करने की चेष्टा ही नहीं करता। ऐसे व्यक्ति की इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है। इच्छा-शक्ति ही सभी चरित्र के गुणों और प्रतिभा का आधार है। जिस व्यक्ति की इच्छा-शक्ति निर्बल है उसपर न दूसरे लोग किसी प्रकार का भरोसा कर सकते हैं और न वह अपने आप पर ही किसी प्रकार का भरोसा कर सकता है। मुफ्त-खोर लगन के साथ कोई काम नहीं कर सकता। इसके कारण उसकी बुद्धि अथवा प्रतिभा का ठीक से विकास नहीं होता। दान प्राप्त कर के शिक्षा प्राप्त करने वाला विरला ही बालक प्रतिभावना होता है। दान ग्रहण करने से उसकी बुद्धि ढीली हो जाती है। उसमें चित्त की एकाग्रता की शक्ति नहीं आती। अतएव वह संसार में उन्नति भी नहीं करता। वह दूसरों की सेवा करने से भी सदा जी चुराता है। कभी कभी दान से शिक्षा प्राप्त किये जानेवाले व्यक्ति बड़े अभिमानी, विलासी तथा क्रूर होते हैं।

कितने ही लोग पड़े हुये पैसे को प्राप्त करने से बड़े प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति प्रबल हो जाने पर यदि दूसरा व्यक्ति भूल से हमें कोई वस्तु दे दे तो हम उसे ले लेने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार हमारे मन में बेइमानी की आदत पड़ जाती है। कभी कभी ऐसे कामों में हम पकड़ भी जाते हैं। इससे हमारे मान की हानि होती है। पड़े हुये पैसे का सर्वोत्तम उपयोग उसे किसी गरीब को दे देना है। यदि यह संभव न हो तो या तो उसे उठाना ही न चाहिये और यदि उठा भी लिया तो उसे फेंक देना चाहिये। इस प्रकार प्रारंभिक अवस्था में करना अत्यन्त आवश्यक है। पैसा के प्रति विकर्षण प्राप्त करने के लिये स्वामी रामकृष्ण परमहंस "टकामाटी" का अभ्यास करते थे। वे एक हाथ में रुपया लेते थे और दूसरे हाथ में माटी लेते थे, और बार बार दोनों को अपनी दृष्टि के सामने लाकर टका माटी कहते थे। फिर पन्द्रह बीस मिनट के बाद दोनों को पानी में फेंक देते थे। इस प्रकार का अभ्यास पैसे के प्रति लोभ को नाश करने के लिये आवश्यक है। इसी प्रकार मुफ्तखोरी की आदत से बचने के लिये मुफ्त में मिली प्रत्येक वस्तु को तुरत त्याग देने का अभ्यास जान बूझ कर करना आवश्यक है।

गड़े हुये धन का मिलना एक भारी अशुभ घटना है। इससे धन प्राप्त करने वाले की अवश्य हानि होती है। लेखक के एक सम्बन्धी को कुछ गड़ा धन मिल गया। इसके मिलते ही पहले तो उसके संबंधियों से उनका वैमनस्य हो गया, पीछे अपने घर में ही लड़ाई होने लगी। धन प्राप्त करने पर सास का घमंड बहुत बढ़ जाने से वह अपनी पतोहू से गाली गलौज करने लगी। इससे पतोहू तंग होकर नदी में

डूब कर मर गई। इस पाप को दबाने के लिये एक ओर पुलिस के लोगों को और दूसरी ओर जाति के लोगों को बहुत सा धन देना पड़ा। इसके कुछ ही दिन बाद उस घर के मुख्य व्यक्ति को लकवा हो गया और वह छः महीने के भीतर ही मर गया। इसी बीच लड़के की दूसरा विवाह हुआ। यह बहू भी क्षयरोग से पीड़ित हो कर मर गई। लड़के की मां, जिसकी आयु चालीस वर्ष के ऊपर थी पति के मर जाने पर व्यभिचार करने लगी। इसके कारण जवान लड़के और माँ में झगड़ा होने लगा। फिर माँ कहीं भाग गई। इस प्रकार गड़े धन को प्राप्त करके सारा परिवार ही नष्ट हो गया।

१४

पश्चात्ताप

पश्चात्ताप दो तरह से बुरा है, यह इच्छा शक्ति की कमजोरी दर्शाता है और उसे कमजोर भी करता है—स्पेनोज़ा।

नये भले काम ही पुरानी गलतियों के सुधार हैं; इसी तरह के प्रायश्चित बड़े लोगों को शोभा देते हैं—एमरसन।

किसी बुरे काम के लिये पश्चात्ताप होना स्वाभाविक है। पश्चात्ताप अपनी भूल से पैदा हुई आत्म-ग्लानि का सूचक है। प्रत्येक आत्म-निरीक्षण करने वाले व्यक्ति को पश्चात्ताप होता है। पश्चात्ताप से आध्यात्मिक बल नहीं बढ़ता। पश्चात्ताप के विचार नकारात्मक होते हैं। ऐसे विचार आध्यात्मिक लाभ नहीं पहुंचाते। मनुष्य को अपने विचार उन विषयों पर केन्द्रित करना चाहिये जो उसे किसी काम में लगावें। उसे अपने विचार निषेधात्मक विषयों से हटाना चाहिए।

अपने आपको कोसना मानसिक आरोग्य का लक्षण नहीं है। कोसना मानसिक बीमारी का परिचायक है। निकम्मे लोगों को इस प्रकार की बीमारी घेरे रहती है। कोसने से मनुष्य के चरित्र में कोई सुधार नहीं होता। ऐसा करने से कुछ कालोपरांत मनुष्य का मन इतना कमजोर हो जाता है कि वह अपने आप पर किसी प्रकार का विश्वास नहीं कर पाता। वह सदा यही सोचता है कि परीक्षा के समय वह अनुत्तीर्ण ही जायगा, और ऐसा होता भी है। फिर वह अपने आपको और भी कोसता है।

मनुष्य को अपना आध्यात्मिक बल बढ़ाने के लिए अपने विचार सकारात्मक बनाने चाहिए। उसे इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि उसे क्या करना है और वह क्या कर सकता है। इस प्रकार के विचारों से दो लाभ हैं। सकारात्मक विचार मनुष्य को काम में लगाते हैं। मनोविज्ञानका यह अमिट सिद्धांत है कि हम जो कुछ सोचते हैं वह हमारे कार्य में परिणत हो जाता है। मनुष्य की कार्यशक्ति उसके विचारों पर ही निर्भर है। उसे अपने आदर्श उतने ही ऊँचे बनाने चाहिए, जितनी कि उसकी पहुँच हो, अर्थात् उसे विश्वास हो कि वह उन आदर्शों को कालान्तर में प्राप्त कर सकता है। वास्तव में मनुष्य का कर्तव्य-क्षेत्र ऐसे ही आदर्शों से निर्मित होता है जर्मनी के प्रसिद्ध तत्ववेता हार्टमन ने बताया है कि काल्पनिक आदर्श कर्तव्य का आधार नहीं, बनता कर्तव्यका आधार क्रियमाण आदर्श होता है। अर्थात् मनुष्य को सदा क्रियमाण आदर्श के ऊपर अपना विचार केन्द्रित करना चाहिए। इस प्रकार अपने विचारों को आगे के काम सोचने में लगाने से मनुष्य उस काम को कुशलता से ही नहीं करता, वरन् उसका मन अपनी भूलों की यन्त्रणा की पीड़ा से बच जाता है।

सकारात्मक विचारों का दूसरा आध्यात्मिक लाभ यह है कि वे आत्म-प्रसादको उत्पन्न करते हैं। मनुष्य में ऐसे विचार आत्म-विश्वास बढ़ाते हैं! प्रत्येक मनुष्य आत्म-प्रसाद और आत्म-विश्वास से ही अपनी उन्नति करता है। आत्म-प्रसाद के अभाव में अनेक भूलें होती हैं, आत्म-प्रसादका अभाव आत्म-विश्वास का विनाशक है। संसार में वही मनुष्य भला काम कर सकता है जो अपने आप में विश्वास रखता

है। वही मनुष्य काम कर सकता है जो यह सोचता है कि 'मैं काम को कर सकता हूँ।' अतएव हमें किसी प्रकार अपने आत्म-विश्वास को न घटाना चाहिए यही आत्मोद्धार की कुंजी है।

भूलों की पूर्ति उनके दुष्परिणामों पर विचार करने से नहीं होती, वरन् उनके सुधारों से होती है। इसी तरह पापोंका वास्तविक प्रतिकार आत्मग्लानि की अनुभूति नहीं, प्रायश्चित है। प्रायश्चित अपने आपको कोसने से नहीं होता, इसके लिए ऐसे कुछ नये काम करना चाहिए जिससे कि मनुष्य अपने खोये हुये आत्म-विश्वास तो फिर प्राप्त करले। प्रायश्चित से आत्म-विच्छेद का विनाश होता है। जब मनुष्य का अन्तर्यामी आत्मा एक बात कहता है और उसका वैयक्तिक आत्मा दूसरी बात करता है, तो आत्म-विच्छेद की उत्पत्ति होती है। इसीका परिणाम आत्मग्लानि है। इस विच्छेद के निवारण के लिए प्रायश्चित किया जाता है, फिर आत्मा में एकरसता उत्पन्न हो जाती है। यही एकरसता आत्मोद्धार और आत्मोन्नति का कारण होती है।

पापों का प्रायश्चित कई प्रकार से किया जा सकता है। किसी व्यक्ति के प्रति अन्याय करना अपने आप के प्रति अन्याय करना है। सबसे बड़ा अन्याय अपने आप के प्रति अन्याय है। अतएव किसी प्रकार हमें इस अन्याय का प्रतिकार करना चाहिए। यही प्रायश्चित है। सम्भव है कि जिस व्यक्ति के प्रति हमने अन्याय किया हो वह हमें मिले ही न, अथवा उसके प्रति हमें अपनी भूल सुधार करने का अवसर ही न मिले। पर हम अपने प्रति तो अपनी भूल सुधार सकते हैं। यह हमारा अपना 'आप' सदा ही हमारे साथ रहता है। हम अपने अन्यायके लिए दूसरों द्वारा प्रतिकार करने से बच सकते हैं, पर अन्याय का प्रतिकार

जो हमारा आत्मा करता है, उसके परिणाम से बचना असम्भव है। इस परिणाम को भोगने में ही हमारा कल्याण है। अतः जब कोई भूल हम से हो जाय तो उसके लिए अपने आपको विशेष कष्ट देना आवश्यक है। जिस विषय-सम्बन्धी भूल हो उससे अपने आपको वंचित कर देना चाहिए। यदि किसी शारीरिक सुख के लिए हमने कोई अनुचित काम किया तो हमें उस सुख से अधिक शारीरिक दुःख अपने आपको देना चाहिच। यदि किसी का धन प्राप्त करने के लिए हमने झूठ बोला हो, तो हमें उस वस्तु का त्याग कर देना चाहिए, जिसके लिए झूठ बोलने का प्रलोभन हुआ हो।

उपवास करना भूलों के प्रायश्चित का एक अच्छा उपाय है। भूलें प्रायः विषयलोलुपता अर्थात् शारीरिक इन्द्रियों के सुख में लगे रहने के कारण ही होती हैं। भूलों से जो आत्म-नियन्त्रण शिथिल हो जाता है अथवा जिस आत्म नियन्त्रण के शिथिल होने के परिणाम स्वरूप भूल होती हैं, वह आत्म-नियन्त्रण उपवास द्वारा पुनः प्राप्त कर लिया जाता है। इस तरह आत्म विश्वास और आत्म-प्रसाद जिसे हम भूलों के कारण खो देते हैं, फिर से प्राप्त कर लेते हैं। उपवास के समय मनुष्य को इन्द्रिय-निग्रह करके भगवान अर्थात् विश्वात्मा का चिन्तन करना चाहिये। यह सभी लोगों के हृदय में सभी समय वर्तमान रहता है। वही हमारे व्यक्तित्व की शक्ति का तथा अपने आत्म-विकास का आधार है। उसी के प्रसाद से हम ऊँचे उठते हैं। और उसीके गिराने से गिर जाते हैं। वास्तव में ऊँचे उठना और उसकी कृपा प्राप्त करना एक ही बात के दो पहलू हैं।

किसी व्यक्ति के प्रति अन्याय करने का प्रतिकार उसकी भलाई करके किया जा सकता है। यदि हमने किसी की निन्दा

की है; और हमें यह कार्य अपनी भूल जान पड़ा, तो हमें उसकी स्तुति करके उस भूल को सुधार लेना चाहिए। यदि हमने किसी के धन का अपहरण किया है, तो उसे धन का लाभ कराना चाहिए; यदि गाली दी है तो उसके लिए दुःख प्रकट करना चाहिए और उसकी बड़ाई करनी चाहिए।

हमने जिस व्यक्ति के प्रति अन्याय किया है, यदि वह न मिले तो किसी दूसरे के प्रति भलाई करके ही अपने किये अन्याय का सुधार करना चाहिए। हम इस प्रकार भी अपनी भूलों का सुधार कर सकते हैं। सब मनुष्यों की आत्मा एक ही है। जब हम किसी के प्रति अन्याय करते हैं तो इसी विश्वात्मा के प्रति अन्याय करते हैं और जब हम किसी की सेवा करते हैं तो उ ी विश्वात्मा की सेवा करते हैं। देने और लेनेवाला हाथ एक ही है, हम चाहे जिस व्यक्ति के साथ व्यवहार क्यों न करें। अतएव किसी व्यक्ति के प्रति दुर्भाव प्रकट करने के प्रतिकार स्वरूप यदि हम किसी दूसरे के प्रति सच्चे हृदय से सद्भाव प्रकट करें अथवा उसकी सेवा करें तो हमारा आध्यात्मिक लाभ उतना ही होगा जितना कि हमारा व्यक्ति विशेष की सेवा करने से लाभ हाता है। बुरे कामों का परिणाम बुरे विचारों की सृष्टि है। यही सृष्टि वास्तविक संसार में परिणत हो जाती है। अतएव हमारे बुरे विचार ही आत्म-विश्वास को घटाते और हमें दुःख में डालते हैं। यदि इन बुरे विचारों को किसी तरह मिटा दें तो हम उनके कुपरिणामों से बच जायँ। बुरे विचार, भले विचारों की वृद्धि से नष्ट होते हैं। दूसरों के प्रति मैत्री-भाव का प्रकाश ऐसे भले विचारों की सृष्टि करता है जिनसे बुरे विचार नष्ट हो जाते हैं

और हमारा खोया हुआ आध्यात्मिक बल हमें फिर प्राप्त हो जाता है।

उपर्युक्त कथन से यह न समझ लिया जाय कि पश्चात्ताप की मनोवृत्ति सर्वथा अवांछनीय है और पाप के लिए पश्चात्ताप न करनेवाले सभी व्यक्ति उसके लिए पश्चात्ताप करनेवाले व्यक्तियों से अच्छे हैं। हमारे कथन का तात्पर्य इतना ही है कि पश्चात्ताप हमारी काम करने की शक्ति नहीं बढ़ता; पश्चात्ताप 'पश्चात्ताप' की आदत को ही बढ़ाता है। पश्चात्ताप अपने सुधारने की इच्छा का सूचक हैं। इसका अनुभव दुराचारी व्यक्ति को नहीं होता। जिस व्यक्ति की विवेक बुद्धि जाग्रत हुई है, जो आत्म-निरीक्षण करना सीख गया है और जो आत्मोद्धार करना जीवन का परम लक्ष्य मानता है, वही पश्चात्ताप करने योग्य होता है। मूर्ख व्यक्ति अपनी भूल के लिए अपने आप को जिम्मेदार नहीं मानता और न वह अपनी भूल के लिए कोई पश्चात्ताप करता है। वह अपनी भूलों का कारण कहीं बाहर ही आरोपित करता है। वह अपनी भूलों के लिए अपने आप को नहीं, किसी दूसरे को कोसता है तथा उसे ही दण्ड का भागी समझता है। इस प्रकार की बहिर्मुखी मनोवृत्ति का सुधार अनेक कष्टों के द्वारा होता है। जो मनुष्य पाप करके आत्म-यंत्रणा नहीं भोगता उसे बाह्य प्रकृति से यंत्रणा-भोगनी पड़ती है। बाह्य प्रकृति की यंत्रणा बहिर्मुखी व्यक्ति का सुधार करती है, आत्म-यंत्रणा अन्तर्मुखी व्यक्ति का सुधार करती है।

पश्चात्ताप का होना अपनी त्रुटि का ज्ञान मात्र होना है यह उसका सुधार नहीं। कितने लोग प्रतिदिन एक ही भूल को करते हैं और उसके लिए हर समय पश्चाताप किया करते हैं। इस प्रकार उनके मन का बल बढ़ता नहीं, घटता है। उनमें अपने

आप को सुधारने का भाव तो है, पर वे अपने आप को सुधारने में असमर्थ पाते हैं। उनकी इस प्रकार की धारणा उनके आत्म-विश्वास को कम कर देती है। मनुष्य को ऐसे काम का करना ही छोड़ देना चाहिए जिसे वह न कर सके और न कर सकने के लिए उसे अपने आप को कोसना पड़े। उसे अपना लक्ष्य ऐसा बनाना चाहिए जिसे वह प्राप्त कर सके।

मेरा एक छात्र कम सोने का इच्छुक है, पर वह बार बार अधिक सो जाता है और उसके लिए पश्चाताप करता है। उसे लेखक ने यही उपदेश दिया कि वह अधिक सोने के लिए बिलकुल पश्चात्ताप न करे, वह खूब सोवे। नींद का ठीक से आना स्वास्थ्य का सूचक है। मनुष्य जितना अधिक थका रहता है उतना ही अधिक सोता है। यह प्रकृति की माँग है, जिसकी अवहेलना उचित नहीं। उसे चाहिए कि वह जाग्रत अवस्था के समय का उचित उपयोग करे। यदि हम जाग्रत अवस्था के समय का उचित प्रयोग करें, तो हमें कम नींद की आवश्यकता न पड़ेगी। मनुष्य जब चिन्तन करता रहता है तब उसे भारी थकावट होती है। इस थकावट के हटाने के लिए उसे अधिक देर तक सोना ही पड़ता है। अगर किसी तरह उसकी चिन्ता दूर हो जावे तो उसे अधिक सोने की आवश्यकता न पड़े। चिन्ता का निवारण अपना काम ठीक से करने से होता है। हमें इसके लिए जो समय हमारे पास है, उसे उचित रूप से खर्च करना चाहिए न कि जो समय व्यर्थ खर्च होगया है उसके लिए चिन्ता करें। इस तरह हम उपस्थित समय को भी खो देते हैं। पश्चात्ताप का समय नये काम करने में लगाना चाहिए, न कि व्यर्थ चिन्तन में। चिन्ता करके हम गए समय को तो खाते ही हैं, हाथ का समय भी खो देते हैं।

कितने लोगों को पश्चात्ताप करने की बीमारी होती है। वे बात बात पर अपने आप को कोसा करते हैं। जिन बातों के लिए उन्हें दुःखी नहीं होना चाहिए वे उनके लिये दुःखी होते हैं। कोई भी काम करने में उन्हें आत्म-ग्लानि होती है। कभी कभी वे आत्म-हत्या तक कर डालते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति किसी मानसिक ग्रन्थिकी उपस्थिति की सूचक है। उस व्यक्ति ने अवश्य पहले कोई बुरा काम किया है। यह उसे याद नहीं, पर उसके संस्कार उसके अदृश्य मन में मानसिक ग्रन्थि के रूप में विद्यमान हैं। अतएव पश्चात्ताप का भाव नये नये विषयों पर आरोपित होता रहता है। यह भाव उसे सक्रिय होने से रोकता है। इस प्रकार के पश्चात्ताप के भाव का निवारण भी मनुष्य को काम में लगा कर ही किया जा सकता है। कभी कभी मनोरेचन क्रिया का प्रयोग भी इसी भाव को हटाने में किया जाता है। पर साधारणतः हम इस प्रकार की मनोवृत्ति के व्यक्ति को जितना अधिक रचनात्मक काम में लगा सकें, उतना ही हम उसे आत्म-कल्याण की ओर ले जाते हैं। ऐसे व्यक्ति को सदा ढ़ाढस दिलाते रहना चाहिए। उसके सद्गुणों को उसे दर्शाना चाहिए ताकि उसमें पुनः आत्म-विश्वास उत्पन्न हो।

१५

आत्म-विडम्बना

मनुष्य अपनी असफलता का कारण अपने आप को ही मानने का तैयार नहीं रहता। वह किसी दूसरे व्यक्ति अथवा परिस्थिति अथवा दैव को अपनी असफलता का कारण मानता है। वह दूसरों के समक्ष भी अपने आपको नहीं, दूसरों को अपने दुःखों का कारण सिद्ध करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार की चेष्टा से उसे एक विचित्र प्रकार का आत्म-संतोष होता है। इस तरह वह अपने प्रति दूसरों की सहानुभूति प्राप्त करने की चेष्टा करता है। यही कारण है कि हम दूसरों के सामने अपने दुःख रोया करते हैं।

बीमार मनुष्य प्रायः बढ़ा चढ़ा कर अपनी बीमारी का वृत्तान्त दूसरों को सुनाया करता है। इस प्रकार की चेष्टा अपने आप की जिम्मेदारियों से बचने की चेष्टा है। कितने ही लोग जब जीवन की समस्याओं को हल करने में हताश हो जाते हैं तो बीमारी की शरण ले लेते हैं। वे फिर अपनी बीमारी की वार्ता का प्रचार करते हैं। इस प्रकार के प्रचार से ऐसे लोगों को आत्म-संतोष होता है कि वे अपनी असफलता के लिए जिम्मेदार नहीं।

अपनी किसी भी इच्छा के फलित होने में बाधा आना मनुष्य को दुःखी बनाता है। जब मनुष्य को यह प्रतीत होता है कि इस प्रकार की बाधायें उपस्थित होना स्वाभाविक है तो

उसका दुःख नष्ट हो जाता है। इसके प्रतिकूल जब उसे यह ज्ञात होता है कि वही एक विशेष व्यक्ति है जिसे उक्त प्रकार की बाधाओं का सामना करना पड़ा है तो उसे दुःख होता है। दुःख की अवस्था में मनुष्य अपने आपको असमर्थ पाता है। वह अपने आप में यह मान बैठता है कि वह असमर्थ है।

मनुष्य दुःखी क्यों होता है? इस प्रश्न का प्रायः यही उत्तर दिया जाता है कि उसके अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं हैं। कठिन परिस्थितियां ही मनुष्य को दुःखी बनाती हैं; कोई मनुष्य अपने आपको दुःखी नहीं बनाता। इस प्रकार का विचार वस्तु स्थिति के ठीक प्रतिकूल है। मनुष्य दुःखी इसलिये होता है कि वह दुःखी होना चाहता है। दुःख अनचाहे नहीं आता; चाहने से दुःख आता है। दुख की चाह इतनी प्रबल है कि मनुष्य को वास्तविक दुख न हो तो वह कल्पित दुःखों का निर्माण कर लेता है। सम्पूर्ण निरोगी व्यक्ति अपने शरीर में रोग की कल्पना कर लेते हैं; और जो धनधान्य से सम्पन्न हैं वे कल्पित भावी आपत्तियों के विषय में चिंतित रहते हैं। जिस प्रकार हममें दूसरों को सुखी और दुखी बनाने की प्रवृति रहती है; इसी प्रकार हममें अपनेआपको सुखी और दुखी बनाने की प्रवृत्तियाँ हैं। अपने आपको दुखी बनाने की प्रवृत्ति उतनी ही प्रबल है जितनी कि अपने आपको सुखी बनाने की प्रवृत्ति। मनुष्य में आत्म-रक्षा और आत्म-विनाश दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं; एक प्रकार की प्रवृत्ति सुख की वृद्धि करती है और दूसरी दुख की।

दुख की अनुभूति मन की कुप्रवृत्ति है। जब मनुष्य चाहता है कि उसे दुख हो तो वह अपनी कठिनाइयों को भारी करके देखने लगता है। वह दूसरों के समक्ष भी यह सिद्ध करने की

चेष्टा करता है कि वास्तव में उसकी कठिनाइयाँ भारी हैं। इस प्रकार दूसरों को अपनी कठिनाइयों को बढ़ाकर कहना अपने-आपको धोखा देना है। कठिनाइयों की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति मनुष्य को दुःखी अथवा सुखी नहीं बना सकती। हमारे दुःख और सुख तो हमारे मन की बात हैं। जब हम दुःखी होना चाहते हैं तो दुःखी हो जाते हैं और सुखी होना चाहते हैं तो सुखी हो जाते हैं। दुःख और सुख का कारण अपने आप में होकर भी हम बाहरी वस्तुओं को कारण बना लेते हैं अर्थात् कारण का आरोप करते हैं।

योग सूत्र में चित्त-वृत्ति को ही दुःख और सुख का कारण माना है। हमारी चित्त-वृत्ति दो प्रकार की होती है—अक्लिष्ट और अक्लिष्ट। पहली प्रकार की वृत्ति होने पर सुख देने वाले पदार्थों की ओर ध्यान जाता है और हमारी कल्पनायें सुखदायी होती हैं। दूसरे प्रकार की वृत्ति आने पर अभद्र कल्पनायें तथा विचार, मन में आते हैं। विचार प्रवृत्तियों के अनुगामी हैं; जो व्यक्ति अपने विचारों पर नियंत्रण रखता है, उसे दुःखी बनाना असम्भव है। अर्थात् जो व्यक्ति दुःखी नहीं होना चाहता उसे कोई कठिनाई दुःखी नहीं बना सकती।

जब हम दूसरों से अपने दुखों का प्रकाशन करते हैं तो हम उन दुखों के समय को बढ़ा देते हैं। दूसरे लोग यह समझने लगते हैं कि हम वास्तव में किसी परिस्थिति के कारण दुःखी हैं। अनेक इस प्रकार के विचार निर्देश के रूप में फिर हमारे पास आते हैं; फिर जब हम दुखी नहीं होते तब भी हमें ये विचार दुखी बनाते हैं। हम इस तरह अपने दुखों का प्रचार करके दुखों का जीवन काल बढ़ा देते हैं। जो दुख दूसरों से न कहने के कारण थोड़े ही समय में समाप्त हो जाते, वे आत्र-

श्यकता से अधिक काल तक ठहरे रहते हैं। कितने लोग जब अनिद्रा से पीड़ित होते हैं तो वे सब जगह अपनी दयनीय अवस्था का प्रचार करते हैं इसके परिणाम-स्वरूप उनका अनिद्रा का रोग बढ़ता जाता है। यदि वे दूसरों से कहना आरम्भ कर दें कि वे अब स्वस्थ हो रहे हैं तो उनका अनिद्रा का रोग दूर हो जाय। इसी तरह बीमारी की अवस्था में अपने प्रति शुभ विचार लाने और दूसरों से अपने विषय में शुभ संवाद सुनाने से बीमारी शीघ्रता से दूर हो जाती है। हम जितना ही दूसरे लोगों को अपने विषय में चिंतित करते हैं, अपने दुख को बढ़ाते हैं।

दूसरे व्यक्ति को अपनी कठिनाइयों के पार करने में सहायता देना हमारा कर्त्तव्य है, पर उनके दुःख से दुःखी होना मूर्खता है। निष्क्रय व्यक्ति के दुःखों के प्रति सहानुभूति दर्शाना व्यर्थ ही नहीं, उसके प्रति अन्याय करना है। जो व्यक्ति अपने दुःखों का कारण किसी दूसरे व्यक्ति को बतावे, उसके प्रति हमारा वैसा ही रुख होना चाहिये जैसे कि विक्षिप्त पुरुष के प्रति।

महात्माओं के चित्र भी मनुष्य को रागद्वेष से मुक्त होने में सहायक होते हैं। यह एक प्रकार की सगुण ब्रह्म की उपासना है। योग सूत्र में कहा गया है—वृत्तिसारूप्यमितरत्र।

मनुष्य की जैसी चित्त-वृत्ति होती है, अर्थात् वह जिस पदार्थ का जिस समय चिंतन करता रहता है, वह उस समय उसी अनुरूप हो जाता है। जिस समय जो कुछ मनुष्य सोचता, उस समय वह वही हो जाता है। महात्माओं का चिंतन करते समय मनुष्य महात्मा बन जाता है; भगवान का चिंतन करते समय वह भगवान बन जाता है और सांसारिक पुरुषों का चिंतन करते समय वह सांसारिक पुरुष बन जाता है। सुखी मनुष्य का चिन्तन मनुष्य को सुखी बनाता है और दुःखी मनुष्य का चिन्तन दुःखी। सदा आनन्द में निमग्न रहनेवाले राग और द्वेष से विमुक्त पुरुषों का ध्यान हमें तदानुरूप बना देता है। चित्र ऐसे पुरुषों का ध्यान करने का साधन है। जिस मनुष्य के बैठक के कमरे में भगवान कृष्ण, बुद्ध, चैतन्यदेव, कबीर और स्वामी रामतीर्थ के चित्र हैं, वह धन्य है। एक न एक बार इन चित्रों का असर उनके मन पर पड़ेगा ही।

सांसारिक चित्र तीन प्रकार के होते हैं—सुन्दर व्यक्तियों के चित्र, मित्रों के चित्र, अपने परिवार के और अपना चित्र। सुन्दर व्यक्तियों के चित्र एक प्रकार की प्रकृति की उपासना है। इससे मन प्रसन्न होता है। पर यह प्रसन्नता क्षणिक रहती है। कितने ही लोग काम-वासना की तृप्ति करने वाले चित्र अपने कमरे में रखते हैं। उनसे उन्हें क्षणिक सुख अवश्य होता है, किन्तु ये चित्र मनुष्य की वास्तविक आध्यात्मिक हानि करते हैं। काम-भावना की उत्तेजना मानसिक शक्ति का ह्रास करती है और मनुष्य को बन्धन की ओर ले जाती है। अपने मित्रों के

चित्र इस प्रकार के चित्रों की अपेक्षा उच्च कोटि के हैं। पहले प्रकार के चित्रों में बहुत से अश्लील होते हैं। अतएव इन्हें ऐसे कमरे में नहीं रखना चाहिये, जहाँ सब लोग आकर बैठते हैं।

मित्रों को चित्र उनका स्मरण करने के लिये उपयोगी हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने मित्र के साथ रहने में सुख पाता है। मित्र के अभाव में उसका चित्र ही इस सुख को देता है। आध्यात्मिक दृष्टि से भी इस प्रकार के चित्र लाभकारी हैं। मनुष्य का आध्यात्मिक बल मैत्री-भावना के अभ्यास से बढ़ता है। यदि हम समस्त संसार के प्रति मैत्री-भावना नहीं ला सकते हैं तो अपने मित्र के प्रति तो लाने में कोई कठिनाई नहीं है। दूसरे, वही व्यक्ति समस्त संसार के प्रति मैत्री-भावना अपने मन में ला सकता है जिसके वास्तविक मित्र हैं और जो अपने मित्रों के लिए त्याग करने को तत्पर है। मित्र के प्रति प्रेम का विस्तार ही संसार के समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम में हो जाता है। यही प्रेम विश्वात्मा के प्रति प्रेम में परिणत हो जाता है।

अस्तु, मित्र का चित्र अपने घर में रखना उचित है। किन्तु अपने मित्र का चित्र हमें ही लाभ पहुँचाता है; उसका लाभ दूसरों को नहीं होता है। साधु महात्माओं का चित्र सभी लोगों का कल्याण करता है। वे जन-साधारण की सामान्य सम्पत्ति हैं। अतएव जहाँ मित्र का चित्र अपने ही बैठक के कमरे की शोभा देता है महात्माओं का चित्र ऐसे कमरे को भी सुशोभित करता है जहाँ बाहर के लोग भी आकर बैठते हैं। दूसरे, महात्माओं के चित्र हमें भी मित्र के चित्र की अपेक्षा आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक उपयोगी हैं। हमारा मित्र अपना सद्भाव हमारे

ही प्रति रखता है। महात्मा गण समस्त प्राणियों के प्रति सद्भाव रखते हैं। मित्र के संपर्क से हम मित्र जैसे बनते हैं और महात्माओं के सम्पर्क से महात्माओं जैसे।

परिवार का चित्र अध्यात्मिक दृष्टि से अधिक उपयोगी नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि उस चित्र से हमारे मन में उनके प्रति सद्भावना ही आती है। हम परिवार के लोगों से कभी कभी रुष्ट हो जाते हैं; । किन्तु चित्र में ऐसी बात नहीं होती। परिवार के लोगों में माता-पिता का चित्र रखना आवश्यक है। जिन लोगों ने हमें जन्म दिया वे हमसे प्रेम और श्रद्धा की आशा रखते हैं। उनके प्रति प्रेम और श्रद्धा दिखाना ईश्वर के प्रति प्रेम और श्रद्धा दिखाना है

आध्यात्मिक दृष्टि से सबसे बुरा चित्र अपने आपका चित्र है। अपने बैठक के कमरे में इस प्रकार का चित्र रखना मूर्खता का परिचायक है। अपना चित्र अहंकार बढ़ाता है। हम बैठक के कमरे में ऐसे चित्र को रखकर दूसरों से अपनेआपको पुजाने का भाव प्रदर्शित करते हैं। मनुष्य का जीवन दूसरों की सेवा के लिए है। अपना प्रेम दूसरों पर प्रकट करना यही मनुष्य के लिए आत्म-विस्तार का उपाय है। जो मनुष्य दूसरों से अपनी सेवा कराने और पुजाने की आशा करता है और जिसे अपना प्रेम पात्र अपने सिवाय और कोई नहीं मिला, उससे बढ़कर मन्द-बुद्धि कौन है? जब कोई व्यक्ति हमारा एक सुन्दर चित्र बनाकर हमें ही भेंट दे तो हमें ऐसी भेंट को स्वीकार करना उचित नहीं। यह वास्तविक प्रेम प्रदर्शन नहीं; यह एक प्रकार की चापलूसी है। जो हमें प्रेम करता है उसे हमारा चित्र अपने घर में रखना अथवा अपने मित्रों को भेंट देना उचित है, न कि हमें ही हमारा चित्र देना। इसे मुँह के सामने प्रशंसा करने के समान

मिथ्या श्रद्धा का प्रदर्शन समझना चाहिये। इस प्रकार के चित्र को यदि किसी प्रकार ले भी लिया जाय तो उसे दूसरों को दे देना उचित है।

संसार का नियम है कि जो व्यक्ति अपनी परवाह नहीं करता और दूसरों की परवाह करता है, उसकी दूसरे लोग परवाह करते हैं। जो अपनी परवाह आप ही कर लेता है, उसकी फिर दूसरे परवाह नहीं करते। अपने आप पर श्रद्धा रखनेवाला पुरुष दूसरों की श्रद्धा का पात्र कदापि नहीं हो सकता। अपनी ही प्रतिमा की पूजा करना एक ऐसी क्रिया है जो समस्त आध्यात्मिक ज्ञान का नाश कर देती है। जितने संसार के महात्मा हुये हैं उन्होंने शरीर की पूजा को निन्दनीय कहा है; वे सत्य की ही पूजा करते थे। वे दूसरों से अपनी पूजा कदापि नहीं होने देते थे। फिर उन्हें अपने विषय में आप ही सोचना तो असम्भव ही था।

१७

समीकरण की व्यापकता

संसार की किसी भी मूल्यवान वस्तु के प्राप्त करने के लिए हमें उसका किसी न किसी प्रकार मूल्य चुकाना पड़ता है। पर यह मूल्य या तो हम किसी दूसरी उतनी ही मूल्य की वस्तु देकर चुकाते हैं अथवा अपने परिश्रम से। सांसारिक व्यवहार में देने और लेने में सदा बराबरी रहती है। हम दूसरों को जितना देते हैं उनसे उतना ही पा लेते हैं। इसी प्रकार जब हम किसी से कोई वस्तु लेते हैं तो उसके बदले में हमें कुछ मौलिक त्याग करना पड़ता है। किसी भी प्रकार का त्याग व्यर्थ नहीं जाता और न किसी प्रकार का लाभ ही बिना त्याग के संभव है। इस नियम को समीकरण का नियम कहा जाता है। समीकरण की क्रिया बाह्य जगत में स्पष्टतः नहीं दीख पड़ती; उसका कार्य अदृश्य रहता है। यह विवेक के द्वारा ही जाना जाता है।

समीकरण के अनेक उदाहरण हम पुराणों के कथानकों में पाते हैं। जब महाभारत युद्ध आरम्भ होने वाला था तब देव-राज इन्द्र को बड़ी चिन्ता हुई। उन्हें अपने वरदान से पैदा हुये कुन्ती-पुत्र अर्जुन के विषय में यह भय हुआ कि कहीं उसका घोर शत्रु कर्ण उसे युद्ध में मार न डाले। कर्ण के पास सूर्य के दिये हुये कवच कुण्डल थे, जिनका यह प्रताप था कि उसके धारण करने वाला पुरुष रण में किसी से पराजित न

हो। अतएव कर्ण के पास उनके रहते हुए उसका रण में पराजित होना असम्भव था। राजा इन्द्र ने उन कवच और कुण्डलों को किसी तरह छल से कर्ण से ले लेने का विचार किया। इन्द्र ने कर्ण की दान-वृत्ति से लाभ उठाने का निश्चय किया। कर्ण अपने द्वार पर आये हुए किसी याचक को असन्तुष्ट होकर जाने नहीं देता था। वह जो कुछ मांगता कर्ण वही उसे दे देता था। अतएव राजा इन्द्र कर्ण के द्वार पर एक भिखारी का भेष धारण कर पहुँचे और उन्होंने कवच कुण्डलों को भिक्षा में मांगा। कर्ण ने बड़े हर्ष के साथ उन्हें अपने बदन से उतार कर इन्द्र को दे दिया। इन्द्र भी प्रसन्न होकर वहाँ से चलने लगे। पर ज्यों ही उन्होंने अपना पैर रथ पर रखा, रथ के दैवी घोड़े उन्हें स्वर्ग की ओर न ले जा सके। कितने ही चलाने पर रथ घोड़े से आगे नहीं खिंचता था, स्वर्ग की ओर जाने की तो बात ही दूर रही। इन्द्र इसे देखकर बहुत विस्मित हुये। कुछ विचार करने पर ज्ञात हुआ कि इसका बोझ इसलिये भारी हो गया है कि उन्होंने कर्ण से दान लिया है। वह अपने तपोबल से क्षीण हो गये थे। उनमें पार्थिवता आ गई थी। वे अब स्वर्ग के अधिकारी न रह कर पृथ्वी के साधारण प्राणियों के समान हो गये थे। दूसरों से दान लेने के कारण वे अपनी दैवी विभूतियों से वंचित हो गये थे। अतएव उन्हें स्वर्ग की ओर जाना असम्भव हो गया था।

इन्द्र लौटकर कर्ण के पास फिर आये और उन्होंने उनसे अपने संकट को प्रगट किया। उन्होंने कर्ण से कहा कि वह कुछ उनसे ले ले, ताकि वे उसके अनुग्रह के भार से कुछ मुक्त हो जायँ। कर्ण ने तो पहले यही कहा कि मैं भिखारियों से भिक्षा नहीं माँगता, किन्तु इन्द्र के बार बार आग्रह करने पर, कर्ण ने

उनकी अमोघ शक्ति को स्वीकार कर लिया। इस तरह इन्द्र की पार्थिवता कम हुई, उनकी आत्मा का बोझ हलका हुआ और वे स्वर्ग की ओर जा सके।

इस कथानक का सारांश यही है कि कोई भी व्यक्ति दूसरों का उपकार सहकर बड़ा नहीं हो सकता। यदि कोई श्रीमान् व्यक्ति भी दूसरों का उपकार सहता है तो वह अपने तपोवल को क्षीण कर देता है। ऐसा व्यक्ति दैवी विभूतियों से तथा सांसारिक वैभव से वंचित हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ छल करता है तो उसका छल स्वयं उसे नीचे गिरा देता है। आत्मा का बोझा लेने से सदा भारी होता है और देने से हलका।

बलि-वामन की कथा भी इसी सत्य को सिद्ध करती है। जब विष्णु भगवान राजा बलि के द्वार पर उससे दान लेने की इच्छा से गये थे उन्हें एक बौने का रूप धारण करना पड़ा। जब उन्होंने बलि से मूँह माँगा बरदान पा लिया तो उनका पद और भी कम हो गया। उन्हें चिरकाल के लिए पाताल में बलि के द्वार पर पहरुवा बन कर रहना पड़ा।

इस कथानक से भी यही समझाया गया है कि कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार के भीख माँगकर बड़ा नहीं हो सकता। दूसरों की कृपा चाहने वाला व्यक्ति अपनी आत्मा के वृहत रूप को भूल जाता है और उसे बौना बना देता है। संसार में कोई भी व्यक्ति त्याग, तपस्या और पर सेवा से बड़ा होता है; परिग्रह, भोगेच्छा और दूसरों की सेवा स्वीकार करने से वह अपना बड़प्पन खोता है। त्याग और तप से आत्मा को अपने वृहत रूप का ज्ञान होता है। उसकी पार्थिवता घटती है तथा उसे अपने शुद्ध और सच्चिदानन्द स्वरूप का ज्ञान होता है।

जहाँ वाह्य पदार्थों का लाभ होता, आन्तरिक शान्ति घटती है। देने और लेने के पलड़े सदा बराबर रहते है। यहां समीकरण के नियम हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि छोटी वस्तु को भी बिना मूल्य चुकाये न ले। यदि किसी से कुछ लेना पड़ा तो उसके लिये मूल्य चुकाने के लिये तत्पर रहना चाहिये। जब हम बार-बार दूसरों से किन्हीं चीजों को माँगते हैं तो हम अपना सम्मान खो देते हैं। जो व्यक्ति दूसरों के धन के भरोसे रहता है, उसका जीवन सदा दुःखी रहता है। हमारे व्यक्तित्व में गुरुत्व उसी समय तक रहता है जब तक हम अपना हाथ दूसरों के समीप फैलाते नहीं हैं। जब हम किसी व्यक्ति की किसी प्रकार की सेवा स्वीकार करते हैं तो चाहे वाह्यरूप से इस व्यवहार का कोई परिणाम न दिखाई पड़े, चाहे वह हम से कुछ भी बदले में लेने की आशा न रखता हो, किन्तु हमारा और उसका सम्बन्ध अदृश्य रूप में बदल ही जाता है। उपकार लेने वाला व्यक्ति, उपकार करने वाले व्यक्ति से, सपने आप को नीचा मानने लगता है। इसी तरह उपकार करने वाला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अपने आप को ऊँचा समझने लगता है।

जब तक हम किसी व्यक्ति से, चाहे वह कितना ही श्रीमान् क्यों न हो, कुछ भी लेने की इच्छा नहीं करते तब तक उसमें और हम में बराबरी का भाव रहता है, पर ज्योंही यह भावना हृदय में आती है कि हमें उससे कुछ अपना स्वार्थ सिद्ध करना है त्योंही हमारे और उसके सम्बन्ध में एकाएक परिवर्तन हो जाता है। अब वह बड़ा और हम छोटे हो जाते हैं। उसका भाव हमारे प्रति बदल जाता है। इसे चाहे हमारा और उसका व्यक्त मन स्वीकार न करे पर आन्तरिक मन में इसका अनुभव

अवश्य होने लगता है। इसके कारण जाने अनजाने अनेक ऐसी चेष्टायें पारस्परिक व्यवहार में होने लगती हैं जो बदले हुये सम्बन्ध की द्योतक रहती हैं।

संसार के धनी लोग विद्वानों को धन देकर और राज्य-सत्ता के अधिकारी समाज के प्रभावशाली लोगों को अनेक प्रकार की उपाधियाँ देकर, उनके मन पर अपना अधिकार जमाने की चेष्टा करते हैं। उपाधि लेने वाले की बुद्धि सदा उपाधि देने वाली सत्ता की गुलाम रहती है। इस तरह पुरस्कार पाने वाले पुरुष की बुद्धि भी पुरस्कार देने वाले व्यक्ति की गुलाम हो जाती है। जो व्यक्ति अपनी बुद्धि को पूर्ण स्वतन्त्र रखना चाहता है उसको दूसरों से न किसी प्रकार की उपाधियाँ न पुरस्कार ग्रहण करना चाहिये। जब हालैंड के यहूदी तत्ववेत्ता स्पेनोजा का नाम संसार में फैला, तो फ्रांस के चौदहवें लुई ने उसे चौदह हजार फ्रैंक सालाना की भारी पेन्शन देना चाही। पर स्पेनोजा ने उसे लेने से इन्कार कर दिया। वह जानता था कि वह इस प्रकार की पेन्शन लेने से अपनी मानसिक स्वतन्त्रता खो देगा।

समीकरण का नियम यह बताता है कि किसी भी कार्य को उसके फल से कदापि पृथक नहीं किया जा सकता। यदि कार्य बुरा है, तो उसका फल दण्ड अवश्य भोगना पड़ेगा और यदि भला है तो उसका शुभ परिणाम अवश्य होगा। हम कार्य और उसके परिणाम का अविच्छेद सम्बन्ध इसलिये नहीं पाते कि इन दोनों के बीच में काल का बड़ा व्यवधान पड़ जाता है। जिस व्यक्ति की सूक्ष्म दृष्टि है वह इस सम्बन्ध को भली प्रकार से देख लेता है। हमारे सब कामों का साक्षी अविनाशी आत्मा है। कोई भी भला बुरा

कार्य उससे नहीं छिपाया जा सकता। ज्योंही कोई कार्य मनुष्य करता है उसका तुरन्त ही लेखा हो जाता है और समय आने पर उसका पूरा पूरा भुगतान होता है। जितना समय किसी काम और उसके फल के मिलने में वीतता है उतना ही उस कार्य का फल अधिक महत्व का होता है। परमात्मा के बैंक में जमा किया हुआ सुकृत नष्ट नहीं होता। प्रत्येक सुकृत का वदला व्याज के सहित मिलता है।

यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की सच्चे मन से सेवा करे तो उससे उसे अवश्य लाभ होता है। पहले तो जिस व्यक्ति की वह सेवा करता है उसके अनुग्रह भार से वह लदा रहता है। यह लाभ तो वाह्य है जो कभी होता है कभी नहीं होता, पर सच्चा लाभ तो आध्यात्मिक है। जिस तरह दूसरों को दुख देने का विचार हमारे मन को कलुषित करता है, दूसरे की सेवा का भार हमारे मन को पवित्र करता है। अपना कलुषित मन ही सब दुखों का मूल है और पवित्र मन आनन्द का श्रोत है। जिसका मन शुद्ध है वह सब प्रकार की परिस्थितियों में प्रसन्न रहता है। वाह्य जगत् की विपदायें उसे दुख नहीं पहुँचाती। इसके विपरीत जिसका मन सदा दूसरों को हानि पहुँचाने में लगा रहता है उसका हृदय सर्वदा सन्तप्त रहता है। वह अपने मित्रों को भी शत्रु के रूप में देखता है, अतएव वह अनेक दुःखों का निर्माण अपने आप कर लेता है। इसी बात को वृन्द कवि ने निम्नांकित दोहे में प्रकट किया है—

जो तोको काटा वुवै ताहि बोउ तू फूल।
तोहिं फूल के फूल हैं वाको हैं तिरसूल॥

हम संसार में दूसरों के साथ व्यवहार करने में बड़े सतर्क

रहते हैं। हमें सदा भय लगा रहता है कि कहीं कोई हमें ठग न ले। यह भय 'आध्यात्मिक समीकरण' का नियम भली भाँति समझने से चला जाता है। हमें अपने आपके सिवाय दूसरा कोई संसार में ठग नहीं सकता। संसार के सब व्यवहारों का साक्षी एक सर्व व्यापी परमात्मा है वह हमारे सभी आन्तरिक विचारों को जानता है। वह जिसके जैसे भाव होते है उसके अनुसार उसे फल देता है। वह सदा न्याय की रक्षा करता है। जब हम इस सर्वव्यापी सत्ता पर विचार करते हैं तो हमारा भय अपने को बड़ी भूल मालूम होती है। ठग ठगी करने में अपनी आत्मा को ही धोखे में डालते हैं। साधु पुरुष किसी प्रकार ठगा नहीं जा सकता। जो व्यक्ति ठगने के विचार अपने मन में रखता है, वह भौतिक लाभ तो पाता है पर अपने मन की शान्ति को गँवा देता है। साधु पुरुष को ठग के द्वारा भौतिक हानि होती है, पर इससे उसके आध्यात्मिक सुख में तनिक भी कमी नहीं होती। आध्यात्मिक समीके नियम को समझने वाला व्यक्ति किसी कार्य को छिपकर नहीं करता। जो बात आज हम अपने कमरे के अन्दर छिपकर एक कोने में करते हैं वह एक दिन घर के छत से चिल्ला-चिल्ला कर संसार में बताई जाती है। यह आध्यात्मिक समीकरण का नियम है। आत्मा सर्वव्यापी हैं उससे कौन किसी बात को छिपा सकता है? वास्तव में संसार के दुख इसलिये होते हैं कि हम अपने दुष्कर्मों को दूसरों से छिपाना चाहते हैं, दुखों को सहकर हमें आत्मा को सांत्वना देने के लिए प्रायश्चित करना पड़ता है। छिप कर किये जाने वाला कार्य स्वयं आत्मा को अग्राह्य होता है। यह एक प्रकार का विकार है जो शारीरिक और मानसिक क्लेशों द्वारा नष्ट होता है।

लोग कहा करते हैं कि पापकर्मी नरकों में जाते हैं और पुण्यकर्मी स्वर्ग में। सभी धर्मोपदेशक इस प्रकार लोगों को सदाचारी बनाने का प्रयत्न करते हैं तथा उन लोगों को जो सदाचार से जीवन बिताते हुये अनेक प्रकार के कष्ट उठाते हैं, एक प्रकार का संतोष देते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि जिन शुभ कर्मों का फल यहाँ नहीं मिला, अगले जन्म में मिलेगा और पाप करने वाले दूसरे जन्म में दुख भोगेंगे। इस प्रकार के विचार वास्तव में समाज को बड़े भारी नियमन में रखते हैं और गरीब अमीर भाव से पैदा होने वाले दुख को सहने योग्य बना देते हैं। पर तर्क-प्रधान बुद्धिवाले व्यक्ति ऐसे विचारों से संतोष नहीं पाते। धूर्त लोग इन भावों का दुरुपयोग भी करते हैं। इसलिए रूस के सुप्रसिद्ध लेखक बेकोनिन इस प्रकार के विचारों को ठगों का जाल समझते हैं; इसमें पड़ कर बेचारे भोले-भाले मजदूर और किसान धनियों के चंगुल में फँस कर सदा उनकी दासता किया करते हैं।

पुण्य करने का अथवा सदाचारी जीवन व्यतीत करने का प्रत्यक्ष लाभ क्या है? यह आध्यात्मिक समीकरण का नियम समझने से ही जाना जा सकता है। सब प्रकार के भोगों का अंतिम लक्ष्य आत्म-शान्ति है। जिसकी बुद्धि भोगों के दिखावटी रूप से पूर्णतः भ्रान्त नहीं हो गई है वह यह सहज में ही समझ जायगा कि पदार्थोंके संग्रह से आत्म-शान्ति और सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं होता। जर्मनी के तत्ववेत्ता शोपेनहावर महाशय लिखते हैं कि संसार के मनुष्य सुख के लिए अनेक सामग्रियाँ एकत्र करते हैं, पर सुख का होना तो मन की स्थिति और उसके भावों पर निर्भर है। यदि हमें संसार के सभी भोग प्राप्त हों पर मन अस्वस्थ हो तो क्या हम उन भोगों से किसी

प्रकार का सुख प्राप्त कर सकते हैं? अतएव बुद्धिमान पुरुष बाह्य पदार्थों पर भरोसा न कर अपने मन को ही भला बनाने की चेष्टा करते हैं। स्वार्थ-बुद्धि से मन सदा क्लांत रहता है और परमार्थ भाव से मन में शान्ति आती है। स्वार्थ बुद्धि का बढ़ना आत्मा के वृहत रूप को बुलाना है। ऐसी अवस्था में दुख ही होता रहता है। सांसारिक वैभव का स्वामी दूसरों की दृष्टि में भले ही सुखी हो; उसकी अन्तरात्मा सुखी है या नहीं, यह उसकी मानसिक स्थिति ही बता सकती है। यदि ऐसा व्यक्ति अपने धन की अधिक से अधिक वृद्धि करना चाहता है तो उसे सुख चैन कहाँ? वह तो सदा ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध और भय का शिकार बना रहता है।

समीकरण का नियम हमें आत्म-संतोष सिखाता है। यदि हम किसी बात की योग्यता रखते हैं तो वह अवश्य हमें मिल जायगी। यदि हम किसी की सच्ची सेवा करते हैं तो उसका अच्छा फल अवश्य मिलेगा। यह नियम हमें लोभ के फँदे में फँसने से बचाता है। संसार की कोई भी वस्तु जब हमें मिलती है तो दूसरी कोई अवश्य छीनी जाती है। यदि कोई धनी है तो या तो उसके सन्तान नहीं होती अथवा सच्चे मित्र नहीं होते या उसे ज्ञान नहीं होता। यह नियम दूसरों के प्रति ईर्ष्याकी अग्नि में जलने से हमें बचाता है। हम यह सोचकर कि वाह्य सुख और आन्तरिक शान्ति एक नहीं, अपने चित्त को समाधान कर लेते हैं; अतएव इसका समझना मनुष्य मात्र के लिये बड़ा कल्याणकारी है। इस बात पर बार-बार विचार करना और इसका मनन करना परम लाभकारी है।

समीकरण का नियम वास्तविक नैतिकता का अधार है। मनुष्य के स्वभाव में दैवी और आसुरी दो प्रकार की सम्पत्तियाँ

हैं। आसुरी सम्पत्ति मोह और अज्ञान की द्योतक है और दैवी सम्पत्ति ज्ञान और सम्पत्ति की। दैवी सम्पत्तियों के ऊपर आसुरी सम्पत्ति के विजय पाने में ही मनुष्य के स्वभाव का विकास होता है, जिसका लक्ष्य आत्म-शक्ति है। इसी अन्तिम स्थिति को विष्णु-पद कहा गया है। इसी स्थिति में चित्त में किसी प्रकार का क्षोभ नहीं रहता, सब प्रकार की विषमतायें लोप हो जाती हैं। मनुष्य का सदाचार और नैतिकता उसे इस पद की ओर ले जाती है। मनुष्य स्वभावतः ही इस पद की ओर आकर्षित होता रहता है। हमारी आत्मा हमें सदा ही आसुरी सम्पत्ति से छूट जाने के लिये प्रेरित करती है। इसी प्रेरणा के कारण हम ज्ञात और अज्ञात रूप से अपने आत्मोद्धार का काम करते थे। ज्ञात रूप से जो काम आत्मोद्धार के लिये किया जाता है, उसी का नाम नैतिकता है। नैतिक जीवनसे मनुष्य उन संकटों और दुःखोंसे बचता है जो अन्यथा उसे अवश्य ही मोह और अज्ञान के लिये भोगने पड़ते हैं। दुःखों और संकटों का निर्माण भी आत्मा अपने आप करता है, जिससे वह मोह और अज्ञान से निवृत हो। यह कार्य अज्ञात आत्मोद्धार का कार्य है।

विद्वान पुरुष अपनी के भूल लिये प्रायश्चित करने के लिए तैयार रहता है। यदि उससे कोई अपराध बन जाय, तो वह अपने मान और प्रतिष्ठा के कारण उसे स्वीकार करने से नहीं हिचकता। यदि अपने किसी बुरे काम के लिये दण्ड भोगना पड़े तो वह उसे प्रसन्नता से उसे स्वीकार करता है। उसके मन से स्वभावतः हो किसी अनुचित क्रिया के प्रतिकूल शीघ्र ही एक प्रतिक्रिया उठ जाती है। इस प्रकार की प्रतिक्रिया का कारण आत्मा की समीकरण की प्रवृत्ति है।

उपर्युक्त कथन की सत्यता राजा परीक्षित की कथा से बड़े सुन्दर रूप से श्रीमद्भागवत में स्पष्ट की गई है। हम राजा परीक्षित की सम्पूर्ण कथा को एक रूपक मान सकते हैं, जो कि एक सर्वव्यापी सत्य को प्रकाशित करती है।

राजा परीक्षित कलि के वश में हो कर शृंगी ऋषि के पिता के गले में मरा सर्प डाल देते हैं। जब वे घर आते हैं, वे देखते हैं कि उनके सोने के मुकुट में कलि बैठा हुआ है। कलि को मुकुट में बैठा देखकर वे अवाक् रह जाते हैं। साथ-साथ उन्हें ज्ञात होता है कि कलि ने उनके मन पर प्रभाव जमा कर उनसे भारी पाप-कर्म करा दिया है। अब उनके चित्त में भारी अशान्ति पैदा होती है। जब उन्हें अपने पाप का ज्ञान होता है तब उन्हें ऐसी आत्म-ग्लानि और भय पैदा होते हैं कि जिनके कारण वे क्षण भर भी शान्त नहीं रह सकते। वे किसी न किसी प्रकार इस भय को शान्त करना चाहते हैं अथवा उसके लिये दण्ड भोगना चाहते हैं। निदान जब शृङ्गी ऋषि का यह शाप सुनाया जाता है कि उनकी आज से सातवें दिन मृत्यु होगी तो वे इस शाप से दुखी और भयभीत न हो कर उसे प्रसन्नता से स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त कथानक में सज्जन मनुष्य की पाप के प्रति मनोवृत्ति का विश्लेषण किया गया है। इस कथानक में एक भारी आध्यात्मिक सत्य दर्शाया गया है। मनुष्य का अहंकार ही कलि है और सांसारिक वैभव उसका स्वर्ण मुकुट है। जब तक मनुष्य इस स्वर्ण-मुकुट को अपने सिर पर रखे रहता है वह अहंकार के वश में होकर अनेक अन्याय करता रहता है। उसमें आत्म-निरीक्षण की शक्ति नहीं रहती। जब तक हम समाज में व्यवहार करते हैं तब तक हम सदा

अहंकार के वश में रहते हैं। जिस समय एकान्त में जा कर आत्म-निरीक्षण करने लगते हैं तब हमें अहंकार से किये गये अन्यायों का ज्ञान होता है। हमें अपनी भूलें अब स्पष्ट दिखाई देने लगती हैं और हमारा अन्तःकण उन भूलों के प्रायश्चित के लिये हमें प्रेरित करने लगता है। आत्मा जानबूझ कर अपने आप में पाप को स्थान नहीं देना चाहता; अतएव प्रायश्चित के रूप में आत्म-शुद्धि की प्रवृत्ति स्वभावतः जाग्रत हो जाती है। पाप से आत्मा अपनी साम्यावस्था खो देता है। आत्म-शुद्धि की चेष्टा इस अवस्था को पुनः प्राप्त करने का चेष्टा है। यही समीकरण की प्रवृत्ति का आध्यात्मिक जीवन में स्पष्ट रूप है।

प्रायश्चित की प्रवृत्ति आत्मा की वह प्रतिक्रिया है जो पाप-क्रियाओं से उत्पन्न कुप्रवृत्तियों का सफलतापूर्वक विरोध करती है तथा उनके कुपरिणामों को नष्ट कर देती है। जो व्यक्ति अपने पापों का प्रायश्चित नहीं करना चाहता, उसकी कुप्रवृत्तियाँ बलवती होती जाती हैं। एक समय ऐसा आता है, जब इन प्रवृत्तियों का प्रतिकार वाह्य परिस्थितियों के द्वारा होता है। इसमें हमें अनेक प्रकार के दुख उठाने पड़ते हैं। इन दुखों के आने से आत्म-शुद्धि होती है। जो आत्म-शुद्धि ज्ञात रूप से प्रायश्चित के रूप में ज्ञानी लोग कहते हैं, वही आत्म-शुद्धि दुख भोग कर अज्ञानी लोगों को करनी पड़ती है। दोनों अवस्था में ही आत्मा की समीकरण की प्रवृत्ति कार्य करती है।

इस समीकरण की प्रवृत्ति को हम समस्त संसार में कार्य करते देखते हैं। यही प्रवृत्ति जड़ संसार में ऊँचे को नीचा और नीचे को ऊँचा बनाती है। यह जलते को शान्त करती और शान्त को जलाती है; गर्म को ठंढा करती और ठंढे को गर्म

करती है। हम देखते हैं कि एक बार श्रीमान् पुरुष दरिद्र होता है और दरिद्र मनुष्य श्रीमान्; सम्मानित व्यक्ति को तिरस्कार मिलता है और रिरस्कृत को सम्मान ; धनी राष्ट्र एक समय दरिद्र होता है और दरिद्र राष्ट्र धनी। यह सब सांसारिक घटनायें समीकरण के प्रवृत्ति के कार्य हैं। आध्यात्मिक जीवन में भी यही प्रवृत्ति काम करती है। इसी के कारण अनुराग का स्थान विराग लेता है, मित्रता का स्थान शत्रुता और संग्रह-बुद्धि का स्थान त्याग-बुद्धि लेती है।

आत्मा की समीकरण की प्रवृत्ति का स्वरूप हमें अपनी अदृश्य मन की क्रियाओं को अध्ययन करने से भली प्रकार से ज्ञात हो सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान यह दर्शाता है कि हमारे स्वप्नों का कारण हमारी सुप्त वासनायें ही हैं। स्वप्न जगत् की प्रत्येक घटना का निर्माण हमारा अदृश्य मन ही करता है। हम अपने स्वप्नों में प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकार की घटनाओं को देखते हैं। दोनों प्रकार की घटनायें हमारे अदृश्य मन के ही कार्य हैं। प्रिय घटनायें रागात्मक वृत्ति की तृप्ति करती हैं और अप्रिय घटनायें विरागात्मक की। मनुष्य की विरागात्मक प्रवृत्ति उतनी ही प्रबल है जितनी की रागात्मक। हमारा स्वरूप शुद्ध, निर्मल और आनन्द रूप है। विषयासक्ति इस स्वरूप के विषय में अज्ञान पैदा करती है। इस स्वरूप का ज्ञान अनसक्ति से ही होता है। स्वप्न की अप्रिय घटनायें आत्मा की विषयासक्ति से मुक्त होने की चेष्टा की प्रतीक हैं। उनका निर्माण अव्यक्त मन इसलिये करता है जिससे कि हमारा व्यक्तित्व सांसारिक वस्तु की लिप्सा से मुक्त हो। हमारा अहंकारी मन इस बात को नहीं जानता कि स्वप्न की सब प्रकार

की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ हमारा आन्तरिक मन ही हमारे समक्ष उपस्थित करता है।

जो बात स्वप्न-जगत के विषय में कही जा सकती है वही बात जाग्रत-अवस्था के विषय में भी सत्य है। मनुष्य का जीवन और मरण उसकी इच्छाओं के ऊपर निर्भर है। इसके सुख और दुःख भी उसके अदृश्य मन के कार्य हैं। जहाँ व्यक्त मन में सुख की प्रवृत्ति उठती है वहीं अव्यक्त मन में उस सुख से मुक्त होने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। यही प्रवृत्ति दुःख का निर्माण करती है। सुख और दुःख एक ही वस्तु के दो छोर हैं। जब हम किसी रस्सी के एक छोर को हाथ में लेते हैं तो हमें जानना चाहिये कि उसका दूसरा छोर अवश्य होगा। यह हमारा मोह ही है जो एक को वांछनीय और दूसरे को अवांछनीय ठहराता है।

यदि हम संसार के प्रमुख कवियों की कृतियों पर विवेचनात्मक दृष्टि डालें तो देखेंगे कि उनके प्रत्येक सुखान्तक और दुखान्तक नाटकों में समीकरण की प्रवृत्ति का कार्य दर्शाया गया है। लोभी, दुराचारी मनुष्य कुछ काल के बाद अपना विनाश करता है और सदाचारी प्राणी सुख-सम्पन्न होता है। दुराचारी मनुष्य जिस लोभ से पापाचरण करता है वही वस्तु उसे कुछ काल बाद इतनी अप्रिय हो जाती है कि वह उससे शीघ्रातिशीघ्र मुक्त होना चाहता है। किसी किसी समय पर कवि इस दुराचारी पात्र के मन में चलने वाले अन्तर्द्वन्द को 'स्वगत भाषण' द्वारा स्पष्ट करता है। कितनी बार इस स्वगत भाषण से यह स्पष्ट होता है कि दुराचारी व्यक्ति अपने आपका नाश करना चाहता है।

शेक्सपियर ने 'मैकवेथ' नामक नाटक में मैकवेथ और

उसकी स्त्री के चरित्र-चित्रण में इसे भली प्रकार दर्शाया है। इसी तरह महात्मा तुलसीदास ने रामचरित मानस में रावण के चरित्र-चित्रण में इस प्रवृत्ति को उसके किसी स्वगत भाषणों में भली प्रकार बताया है।

मनुष्य को संसार में वही मिलता है, जिसकी उसे हार्दिक इच्छा होती है। जिसे संसार में जीवन की तथा सुख-समृद्धि की इच्छा होती है, उसे जीवन और सुख मिलते हैं और जिसे मृत्यु और दुःख की इच्छा रहती है उसे मृत्यु और दुख मिलते हैं। वास्तव में दोनों प्रकार के पदार्थ आत्मा की ही देन हैं। जो एक को लेगा उसे दूसरे को अवश्य ही लेना पड़ेगा। आत्मा स्वयं निर्लिप्त, शुद्ध और विकाररहित है। वह सदा समता की स्थिति चाहता है। चित्त-विश्लेषण के प्रसिद्ध विद्वानों ने मृत्यु की इच्छा को मनुष्य की उतनी ही प्रबल इच्छा माना है जितना कि भोगेच्छा। मृत्यु की इच्छा निर्वाण की इच्छा का एक रूप है। इसी निर्वाण की इच्छा के कारण निद्रा आती है, मृत्यु होती है और जीव इस सांसारिक जीवन से मुक्त होता है। यही इच्छा विषमता का अन्त कर समता की ओर हमें ले जाती है। इसी तथ्य को दूसरी तरह हम प्रकार तरह कह सकते हैं कि आत्मा की समता की इच्छा ही सांसारिक दुख को उपस्थित करती है तथा निद्रा और मृत्यु लाती है। इस आत्मा की इच्छा की कोई अवहेलना नहीं कर सकता। इसे स्वीकार न करना अज्ञान में पड़ना है। जो इसे जान लेता है उसी का जीवन सब प्रकार सम्पूर्ण होता है। वास्तविक नैतिकता भी उसी के जीवन में रहती है।

१८

बकवाद से हानि

बकवाद करने को सभी धर्म-शिक्षकों ने बुरा कहा है। वाणी का संयम एक महान संयम है। बुद्ध भगवान ने अपने अष्टांगी मार्ग में बकवाद न करने के लिए उपदेश दिया है। बकवाद करना क्यों बुरा है। इसका ज्ञान करना और उसपर विचार करना आवश्यक है।

बकवाद करने की तीन बुराइयाँ प्रत्यक्ष हैं। एक मानसिक शक्ति खर्च होती है, दूसरे, आत्मनिरीक्षण का अभाव होता है, तीसरे, इससे भलाई न होके बुराई ही अधिक होती है। इन तीन बातों को अनुभव में घटाना आवश्यक है। जब तक हम किसी प्रकार की आदत के बुरे परिणाम को ठीक से मन में नहीं बैठा लेते, तब तक वह आदत नहीं छूटती। कोई भी बुरी आदत छुड़ाने के लिए इतना ही आवश्यक नहीं कि हमारी बुद्धि अथवा ज्ञात मन उसके छोड़ने की आवश्यकता समझ ले; उसे छुड़ाने के लिए अपने अचेतन मन में परिवर्तन करना आवश्यक है। बुद्धिमात्र से समझी बात समय पड़ने पर काम नहीं आती। जो बात भावपूर्ण मनन के द्वारा मन के अन्दर बैठाई जाती है वह काम में आती है।

बकवाद करने से मानसिक शक्ति का ह्रास होता है। बकवाद उस प्रकार के बोलने को कहते हैं जिसके विषय में न तो पहले से कुछ सोचा गया हो और न बोलना आरम्भ हो जाने

पर किसी प्रकार समय का प्रतिबन्ध हो। जिस बात का लक्ष्य, क्रम और समय निश्चित हो वह बकवाद नहीं है। पर जब हम साधारणतः समाज में आते हैं तब न तो हमारे बात चीत करने का कोई लक्ष्य होता है, न उस के पहलुओं का कोई क्रम होता है और न कोई समय की अवधि होती है। ऐसी अवस्था में मानसिक शक्ति का ह्रास ही होता है।

जो भाफ साधारण गर्मी पाकर उड़ जाती है उसे जब निश्चित नियम के अनुसार प्रकाशित किया जाता है तो वह बड़े बड़े कल और कारखानों को चलाती है। जो आग जङ्गल में व्यर्थ खर्च होती है और किसी का लाभ न कर नुकसान करती है, वही आग जब पूर्व-निश्चित स्थान पर, निश्चित रूप से, नियम के अनुसार जला दी जाती है तो भारी उपयोगी शक्ति बन जाती है। इसी तरह बोलना समाज के लिए भलाई करने वाला होता है। उस से आत्म-विकास होता है और दूसरों का लाभ होता है। जो व्यक्ति अपने विचारों को दूसरों के समक्ष प्रकाशित नहीं करता, उसकी प्रतिभा स्फुरित नहीं होती। वह समाज की सेवा करने में असमर्थ रहता है। अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए और निश्चय को दृढ़ करने के लिए दूसरों के साथ विचार-विनिमय करना परमावश्यक है। इसके लिए हमें अपने विचार दूसरों के समक्ष रखने पड़ते हैं और दूसरों के विचार मिलाने पड़ते हैं। पर जब यही बोलना लक्ष्यहीन, क्रमहीन और बेसमय का होता है तो इससे लाभ न हो कर हानि हो जाती है सुनने वाले के मन पर इस प्रकार से बोलने वाले का कोई लाभदायक स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता।

अधिक बोलने वाला व्यक्ति बहुत सी बातें व्यर्थ कह डालता है। इनकी व्यर्थता सुनने वाले समझ जाते हैं। इसका

ज्ञान बोलने वाले को नहीं होता। इसके कारण जो कुछ महत्व की बातें भी वह कहता है, वे भी व्यर्थ ही समझी जाती हैं। सुनने वाले हमारी बातों को महत्व तभी देते हैं जब वे सुनने को उत्सुक हों और उनकी इच्छा सन्तुष्ट करने के लिए हम कुछ कहें, किन्तु जब हम बात करने को उत्सुक रहते हैं और सुनने वाले अपने अनजाने, अनायास अथवा अपनी इच्छा के विरुद्ध सुनते रहते हैं तो हमारी बातों का कोई लाभ नहीं होता। प्रत्येक बात की प्रभावात्मक-शक्ति हमारे उसपर मनन करने पर निर्भर है। जिस बात के ऊपर हमने मनन नहीं किया है, उसका प्रकाशन करना ही व्यर्थ होता है।

इस प्रकार की बातें करने से हमारे प्रति लोगों में सम्मान के भाव का अभाव हो जाता है और अनादर का भाव उत्पन्न हो जाता है। यही कारण है कि अधिक बात करने वाला विरला ही व्यक्ति समाज में सम्मानित होता है। अधिक बकवाद करने से शारीरिक शक्ति क्षीण होती है। जो जितना ही अधिक बोलता है उसकी आयु उतनी ही अधिक क्षीण होती है। आयु चार बातों से विशेषकर क्षीण होती है—बकवाद करना, जल्दी जल्दी सब काम करना, अति विषय भोग करना और चिन्ता करना। जिस प्रकार विषय भोग करने से मनुष्य को सुख होता है उसी प्रकार बात-चीत करने से सुख होता है। नियमित रूप से होने पर दोनों ही रचनात्मक आनन्द उत्पादित करते हैं और उनका परिणाम भी भला होता है। पर जब अनियमित रूप से इनमें से कोई भी काम किया जाता है तो दोनों का परिणाम विनाशकारी होता है।

बकवाद करना आत्म-निरीक्षण की शक्ति कम कर देता है। बकवाद करने की आदत एक प्रकार की नशाखोरी की

आदत है। जैसे नशाखोरी की आदत पड़ जाने पर सरलता से नहीं छूटती, वैसे ही बकवाद की आदत एक बार पड़ जाने पर सरलता से नहीं छूटती। प्रत्येक आदत एक विशेष प्रकार का आनन्द उत्पन्न करती है। इसी आनन्द के प्राप्ति की इच्छा उस आदत को मन से निकलने नहीं देती। पर सभी बुरी आदतें मनुष्य को वहिर्मुखी बनाती हैं, अथवा वे उसकी बहिर्मुखता का परिणाम हैं और इससे उसकी बहिर्मुखता और भी दृढ़ हो जाती है। अतएव बकवाद करने वाला मनुष्य शीघ्र ही संकट में पड़ जाता है और निन्दा का पात्र बन जाता है। उसके मित्र भी शत्रु बन जाते हैं। बकवाद का अन्त निराशावादिता और चिन्ता में होता है।

बकवाद करना अपने आप में सुखी न रहने का भाव प्रदर्शित करता है। जो व्यक्ति अपने आपको आध्यात्मिक चिन्तन से सुखी नहीं बना सकता, अर्थात् जिसके मन में आध्यात्मिक विचारों का अभाव है, उसे वलात बकवादी बनना पड़ता है। जो व्यक्ति समाज में रहने को जितना अधिक उत्सुक रहता है वह अपने आपमें उतना ही अधिक दुःखी होता है। अपने दुःख को भुलाने और अपनी आन्तरिक अशान्ति का विस्मरण करने के लिए ही मनुष्य बकवाद की शरण लेता है। पर इस प्रकार उसकी शक्ति का और भी ह्रास होता है और उसमें आनन्द प्राप्ति की योग्यता और भी कम हो जाती है।

बकवाद करने से तीसरी हानि यह है कि उससे हम अपने आप अनजाने ऐसे अनेक ऐसे पाप कर डालते हैं जैसे झूठ बोलना, निन्दा करना, चुगली करना आदि। बकवाद करने वाले व्यक्ति में दूसरों पर अपनी बात का प्रभाव जमाने की उत्कट

इच्छा होती है। यह इच्छा उसमें आत्म-हीनता की मानसिक ग्रन्थि के उपस्थिति की सूचक है। यही ग्रन्थि निन्दा और चुगली तथा झूठ बोलने का प्रधान कारण होती है। अंग्रेजी लेखक कावेट महाशय का कथन है कि जब दो चार लोग एक जगह एकत्र होते हैं, तो वे अनुपस्थित व्यक्तियों की बुराई करने में ही लग जाते हैं। इन इकत्रित व्यक्तियों में से जब कोई उठ कर पहले चला जाता है तो उसकी अनुपस्थिति में बाकी लोग उसकी बुराई करने लगते हैं अर्थात् अब उसके आचरण की नुक्ताचीनी होने लगती है। उनके इस कथन से यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्य स्वभावतः दूसरों की स्तुति में आनन्द न लेकर उनकी निन्दा में आनन्द लेता है। अतएव दूसरों से अधिक मिलना और बकवाद करना अपने आप को झूठ, निन्दा और चुगली के पाप का भागी बनाना है। किसी भी घंटे भर चलने वाली बात का यदि विश्लेषण किया जाय तो हम अधिकतर उपर्युक्त सत्य पावेंगे। इससे मनुष्य की सदाचार की नहीं, दुराचार की प्रवृत्ति दृढ़ होती है।

इसलिए ही धर्म-शिक्षा में बकवाद करना त्याज्य माना गया है। बकवाद करते समय न हम केवल दूसरों की निन्दा करते हैं, वरन् दूसरों की निन्दा सुनते भी हैं। पर-निन्दा सुनना भी एक प्रकार का पाप है। जब इसके संस्कार दृढ़ हो जाते हैं तो अनेक प्रकार के अवांछनीय कार्यों में प्रकाशित होने लगते हैं। बकवाद से हम अनजाने दूसरों की कही बातें ऐसी जगह कह देते हैं जहाँ उन्हें न कहना चाहिए। इससे हमारी भारी क्षति होती है। अतएव व्यवहार कुशलता की दृष्टि से भी बकवाद करना त्याज्य है।

१९

कायरता

कायरता एक प्रकार की मानसिक दुर्बलता है। जो मनुष्य प्रत्येक कार्य करने में संदिग्ध चित्त रहे, जा प्रत्येक मनुष्य से डरे, जिसमें किसी प्रकार का आत्म-विश्वास न हो, उसे कायर कहते हैं। कायर मनुष्य सदा नर्क की यन्त्रण भोगा करता है। ऐसा मनुष्य देहान्त के पूर्व हजारों बार मृत्यु के दुख का उपभोग कर लेता है। कायरता और निराशावाद सदा के सहगामी है। कायर मनुष्य से किसी प्रकार की भलाई की आशा नहीं की जा सकती। आशातीत और कठिन परिस्थितियों का सामना करने वाला व्यक्ति ही संसार की स्थाई भलाई कर सकता है।

मनुष्य में कायरता कैसे आती है;—इसपर विचार करना उचित है। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि कायरता मनुष्य का जन्मजात गुण नहीं। कायरता एक प्रकार की आदत है और वह दूसरी आदतों के समान अभ्यास से प्राप्त होती हैं। अभ्यास से ही मनुष्य वीर और अभ्यास से ही कायर बन जाता है। कायरता अशुभ-संस्कारों का परिणाम है।

जब मनुष्य में स्वार्थपरायणता बढ़ जाती है तो वह प्रत्येक व्यक्ति से द्वेष करने लगता है। कृपण मनुष्य को सदा भय

रहता है कि कहीं दूसरा मनुष्य उसका धन न हड़प ले। पद-लोलुप को भय रहता है कि दूसरे लोग उसके पद को छीन न लें। वह अपने कल्पित शत्रुओं के विनाश के लिए अनेक उपाय रचा करता है। इस प्रकार की चिंता से उसका मन निर्बल हो जाता है। जो मनोवृत्ति दूसरों के विनाश के सोचने का काम करती है, वही आत्म-विनाश की चिंता में काम करने लगती है। विनाश की भावना को मन में लाना ही बुरा है, चाहे विनाश दूसरे का हो अथवा अपना। आधुनिक मनोविज्ञान ने अनेक खोजों और प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया है कि पर-हत्या की प्रवृत्ति और आत्महत्या की प्रवृत्ति एक ही प्रवृत्ति के दो रूप हैं। जिस प्रवृत्ति की प्रबलता से दूसरों का विनाश किया जाता है, वही प्रवृत्ति अपने आप का विनाश करती है। जब दूसरे के विनाश की प्रवृत्ति आश्रयहीन होती है, तो वह आत्मा को ही अपना आश्रय बना लेती है। ऐसी स्थिति में यह प्रवृत्ति अनेक प्रकार के कल्पित भयों में परिणत हो जाती है। यही कल्पित भय मनुष्य को कायर बना देते हैं।

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक कथन से स्पष्ट है कि कायरता मनुष्य के आध्यात्मिक पतन की सूचक है। कायर मनुष्य में न तो ईश्वर-विश्वास रहता है, और न आत्म-विश्वास। वह भौतिक जगत् को ही सत्य मान बैठता है। जब मनुष्य में स्वार्थ बुद्धि बढ़ती है तो आध्यात्मिकता स्वभावतः नष्ट हो जाती है। इसी कारण वह अनेक क्रूर कर्म करता है और अनेक दुर्भावनाओं को अपने मन में स्थान देता है।

इस प्रकार की मानसिक स्थिति का विनाश करने के लिए ऐसे मनुष्य के हृदय में अनेक प्रकार के भय उत्पन्न होते हैं।

वह सब लोगों और सब प्रकार की परिस्थितियों से डरने लगता है। उसे अपने ऊपर कुछ भी भरोसा नहीं रहता।

कायरता दुष्कर्मों का परिणाम है। कंस के दुष्कर्मों ने उसे कायर बना दिया था। उसकी स्वार्थ-परायणता और क्रूरता ने उसके मन को इतना निर्बल बना दिया था कि वह देवकी के प्रत्येक बालक से भय खाने लगा। वह उनके विनाश के लिए उतारू हो गया। कितने ही लोग ऐसी अवस्था में आत्म-हत्या कर लेते हैं। जब मनुष्य कोई दुष्कर्म करता है तो उसका मन उसे अपने पापों के लिए कोसने लगता है। इसी कारण वह अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनाएँ मन में लाता है और सदा अपने ही बनाये नर्क में गोते खाने लगता है। क्रूरता कायरता की जननी है। यदि मनुष्य अपने आप निर्भय बनना चाहता है तो उसे चाहिये कि वह दूसरों को भी अभय-दान दे।

अब प्रश्न यह आता है कि मनुष्य कायरता से मुक्त कैसे हो? इसका उत्तर एक ही है—वह अपना आध्यात्मिक बल बढ़ाये। बलवान मनुष्य ही वीर होता है; क्योंकि उसका बल ही उसे निर्भयता प्रदान करता है। जिस व्यक्ति को सब में रहने वाले अन्तर्यामी में विश्वास है, जो उसे ही साक्षी बना-कर सब काम करता है, वह कदापि कायर नहीं होता। जिस मनुष्य का यह दृढ़ विश्वास है, कि यह संसार एक अटल नियम के द्वारा चल रहा है, वह न तो कोई दुष्कर्म करता है और न अकारण किसी परिस्थिति से भयभीत होता है। उसे सभी मनुष्यों में भलाई दिखाई देती है और सभी परिस्थितियाँ हित-कारी जान पड़ती हैं।

मनुष्य अपनी मानसिक भीरुता को "मैत्री-भावना" के अभ्यास से नष्ट कर सकता है। इस भावना का अभ्यास

प्रत्येक भारतीय पुराने समय में करता था। कुछ विद्वान् लोग इस अभ्यास को अब भी करते हैं। कितने ही लोगों को रात में भयंकर स्वप्न आते हैं। यदि वे मैत्री-भावना का अभ्यास नियमित रूप से करने लग जायें तो वे इस प्रकार के स्वप्नों से बिलकुल मुक्त हो जायें। मैत्री-भावना भय की विनाशक है और जहाँ भय नहीं वहाँ कायरता कैसी?

२०

सदाचार और सदाचार की शिक्षा

सदाचार नैतिकता को आचरण में लाने का परिणाम है। नैतिकता अपने आप के लिये और समाज के कल्याण के लिये अत्यन्त आवश्यक है। नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करने वाले व्यक्ति को अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग होते हैं और उसे संसार में भी अन्त में विफलता ही मिलती है। जो मनुष्य अनैतिक आचरण करके संसार में उन्नति करते दिखाई देते हैं उनकी उन्नति अस्थायी रहती है। जितने वे बाहर से बढ़ते जाते हैं भीतर से खोखले होते जाते हैं। जो मनुष्य जितना ही स्वार्थी होता है और अपने सुख के लिये जितना ही दूसरे लोगों के मन को दुखित करता है वह स्वयं भी उतना ही जीवन में अधिक कष्ट पाता है। ऐसे व्यक्ति के मन में अनेक प्रकार की मानसिक झंझटें उत्पन्न हो जाती हैं। मनुष्य दूसरे को सुखी बनाकर ही आत्म-शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

मनुष्य के मनमें अपने सुख की इच्छायें तथा दूसरों को सुखी बनाने की इच्छायें, ये दो प्रकार की इच्छायें हैं। जीवन का विकास अपनी सुख की इच्छाओं के नियन्त्रण और दूसरे को सुखी बनाने की इच्छाओं की वृद्धि में है। जो मनुष्य जितना ही अधिक अपना कल्याण दूसरे लोगों के कल्याण में देखता है वह उतना ही बड़ा महात्मा है; वह उतना ही सुखी और

शान्त चित्त रहता है। उसके मन में किसी प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न नहीं होता। अतएव वह एकाग्रचित्त होकर किसी काम को करता है और उसे उसमें सफलता मिलती है। मानसिक अर्न्तद्वन्द्व की अवस्था में चित्त की एकाग्रता नहीं होती। अतएव मनुष्य कोई भी काम लगन के साथ नहीं कर पाता। जब वह एक काम करता है तो दूसरे काम की चिन्ता उसे सताती रहती है। इस प्रकार उसे किसी भी काम में सफलता नहीं मिलती।

व्यभिचारी तथा दुराचारी मनुष्य को अनेक प्रकार की आत्म-ग्लानि होती रहती है। जब वह अपने आत्मग्लानि के विचारों को दबाने की चेष्टा करता है तो उसे अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य स्व-भावतः भला बनना चाहता है। उसकी अन्तरात्मा तब तक सुखी नहीं रहती जब तक कि वह अपने आचरण को अपने आदर्श के अनुरूप नहीं बना लेता। प्रत्येक व्यक्ति के आदर्श होते हैं। आदर्श की उपस्थिति मनुष्य की विचार-शक्ति की क्रिया का ही परिणाम है। पशु में विचार करने की शक्ति नहीं होती, अतएव उसमें धार्मिक वृत्ति भी नहीं रहती और न उसके मन में किसी प्रकार के आदर्श होते हैं। आदर्शहीन पुरुष पशु के समान ही है। जब मनुष्य अपने आदर्श के विरुद्ध काम करता है तो उसका ही मन उसे दुःख देने लगता है; वह अपने आप से ही दण्ड पाने लगता है। अतएव सदाचारी होना अपने आप को सुखी और उन्नतिशील बनाने का तथा स्वास्थ्य लाभ करने का सर्वोत्तम उपाय है।

नवीन मनोविज्ञान का छिछला ज्ञान रखने वाले व्यक्ति नैति-कता को व्यर्थ मानते हैं। डाक्टर फ्रायड ने स्वतन्त्र जीवन

की आवश्यकता बताई और नैतिकता की अतिवृद्धि को मानसिक रोगों का कारण माना है। उनके कथनानुसार जिस व्यक्ति के जीवन के आदर्श जितने ऊँचे होते हैं उसके मन में उतनी अधिक झंझटें होती हैं; क्योंकि उसे उतना ही अधिक अपनी प्राकृतिक इच्छाओं पर प्रतिबन्ध रखना पड़ता है। उनका कथन है कि इस प्रकार के दमन से मनुष्य की प्राकृतिक इच्छायें विकृत होकर मानसिक ग्रन्थियों का रूप धारण कर लेती हैं और वे फिर अनेक प्रकार के रोगों में प्रकाशित होती हैं। इस प्रकार की शिक्षा के परिणाम-स्वरूप नवयुवकों में स्वच्छन्द जीवन का प्रचार होने लगा। प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य ही मनुष्य की पाशविक इच्छाओं को प्रोत्साहन देना बन गया। इसके परिणामस्वरूप समाज में अनेक प्रकार की समस्यायें उत्पन्न हो गई हैं।

पर नैतिकता के प्रति उक्त प्रकार की धारणा रखना एक मनोवैज्ञानिक भूल है। नैतिकता के बहिष्कार से जिस प्रकार सामाजिक शान्ति नष्ट होती है उसी प्रकार वैयक्तिक शान्ति भी नष्ट होती है। मनुष्य का मन और समाज एक दूसरे के पूरक हैं, जैसा मनुष्य का समाज होता है वैसा ही उसका मन होता है और जैसा मन होता है वैसा ही उसका समाज होता है। अनैतिक जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति अन्त में अपने आप का विनाश कर डालते हैं। व्यभिचारी मनुष्य अन्त में विक्षिप्त बन जाता है अथवा आत्महत्या कर डालता है। अति स्वार्थी व्यक्ति की भी यही दुर्दशा होती है। यदि मनुष्य अपने स्वार्थ का पूर्णतः त्याग कर दे तो उसे किसी प्रकार का मानसिक रोग उत्पन्न ही न हो। जो मनुष्य प्रत्येक काम को इस प्रकार करता है कि उसका साक्षी उसका अन्तरात्मा है वह कदापि किसी प्रकार

की मानसिक अशान्ति नहीं भोगता। सदाचार के विरुद्ध आचरण ही मनुष्य को विनाश करता है।

अब प्रश्न यह है कि क्या अपने जीवन में अधिक नैतिकता का प्रदर्शन करने वाले व्यक्तियों के मन में मानसिक झंझटें नहीं रहतीं और क्या फ्रायड महाशय का कथन सर्वथा झूठ है? क्या नैतिकता के कारण मनुष्य की प्राकृतिक इच्छाओं का दमन नहीं होता और यदि उनका दमन होता है तो क्या इससे मानसिक ग्रन्थि नहीं उत्पन्न हो जायेंगी! नैतिकता और प्राकृतिक इच्छाओं की तृप्ति का सामञ्जस्य कैसे किया जा सकता है?

इन प्रश्नों के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि प्रत्येक प्रकार का अतिक्रम मनुष्य के मन में विषमता की उत्पत्ति करता है। अतिक्रम मानसिक रोग का कारण और उसकी उपस्थिति का सूचक है। जिस मनुष्य के जीवन में बहुत अधिक नैतिकता पाई जाती है उसकी प्राकृतिक इच्छाओं का अवश्य दमन होता है और इस प्रकार का दमन शारीरिक और मान-मानसिक रोगों का कारण होता है। पर नैतिकता का अत्यधिक बढ़ना ही इस बात का सूचक है कि व्यक्ति के आन्तरिक मन में दबी हुई पाप की भावना उपस्थित है। यह भावना मानसिक ग्रन्थि के रूप में रहने के कारण मनुष्य के मन को अशान्त बनाये रखती है। इसीके प्रतिकार स्वरूप मनुष्य अपने आप को नैतिक व्यक्ति सिद्ध करने की चेष्टा करता है। जिस प्रकार के नैतिक नियम के विरुद्ध पहले उसका आचरण हो चुका है, उसी प्रकार के नैतिक नियम की प्रबलता अब उसके जीवन में पाई जाती है। ऐसे आचरण से मनुष्य अपने को भुलाने की चेष्टा करता है। यह नैतिकता मनुष्य के बाहरी आचरण में ही पाई जाती

है। ऐसा व्यक्ति नैतिकता का उपदेशक बन जाता है उसे स्वयं अपने नैतिक आचरण से संतोष नहीं होता। वह जो कुछ भला काम करता है उसका वह दूसरे लोगों में प्रचार करने की चेष्टा करता है। वह अपने आपको दूसरे लोगों के अधिक योग्य सिद्ध करने की अनेक प्रकार की चेष्टा करता है। इसके लिये वह अपनी प्राकृतिक इच्छाओं का अत्यधिक दमन भी करता है। ये इच्छायें फिर विकृत होकर उसकी मानसिक झंझटों को बढ़ाती जाती हैं। उसकी मानसिक शक्ति अब अर्न्तद्वन्द्व में ही खर्च होने लगती है और ऐसे व्यक्ति को विक्षिप्तता उत्पन्न हो जाती है।

मानसिक अर्न्तद्वन्द्व वाले व्यक्ति के आदर्श बहुत ऊँचे होते हैं। वह इन आदर्शों के अनुसार न केवल अपने आप को, वरन् दूसरे लोगों को भी चलाने की चेष्टा करता है। उसे दूसरे को सुधारने की जितनी चिन्ता रहती है उतनी अपने आपको पहचानने की चिन्ता नहीं रहती। उसमें आत्म-निरीक्षण की शक्ति का अभाव रहता है। नैतिकता का शिक्षक बन जाना अथवा इसका संकल्प लेना अपने मनमें मानसिक ग्रन्थि का प्रतीक है। इस सिद्धान्त के अनुसार सदाचारी होना अच्छा है पर सदाचार का शिक्षक होना बुरा है। सदाचार के शिक्षक की मनोवृत्ति दूसरों के दोषों के देखने में लगी रहती है। सदाचार का प्रचारक अपनी त्रुटियों के लिये आत्म-भर्त्सना के दुःख का अनुभव नहीं करता, वह दूसरे लोगों की त्रुटियों के लिये दुःख का अनुभव करता है। वह अपने कुकृत्य के लिये प्रायश्चित न करके दूसरे लोगों के कुकृत्य किये के प्रायश्चित करता है। उसे दूसरे लोगों के आचरण की चिन्ता लगी रहती है। वह अपने आप को तो स्वयं महात्मा समझ बैठता है।

अपने मित्रों, अनुयायियों, शिष्यों अथवा पुत्रों के अनैतिक आचरण उसे परेशान करते रहते हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रकार की परेशानी अपने आपकी परेशानी का आरोपण मात्र है। मनुष्य में जब आत्म-निरीक्षण की शक्ति नहीं रहती तो वह अपने ही अवगुणों को दूसरे लोगों पर आरोपित करता है और वह इन आरोपित अवगुणों से अपने आपको दुःखी बनाये रहता है। दूसरों की त्रुटियों के लिये चिन्तित रहना विकृत रूप से महान् होने का आत्म-सन्तोष प्राप्त करना है। इस प्रकार की महानता की इच्छा आत्महीनता की मानसिक ग्रन्थि की प्रतीक है। इस ग्रन्थि की उत्पत्ति किसी प्रकार के अनैतिक आचरण के कारण होती है। जब मनुष्य किसी प्रकार का अनैतिक आचरण कर लेता है और इससे उसे आत्म-भर्त्सना उत्पन्न होती है तो प्रायः वह अपने अनैतिक आचरण के लिये प्रायश्चित न करके उसे भूलने की चेष्टा करता है। जो व्यक्ति अपने पाप को भुलाने की चेष्टा न करके उसका प्रायश्चित कर लेते हैं उनके मन में किसी प्रकार की मानसिक ग्रन्थि उत्पन्न नहीं होती। पर जो पाप को भुलाने की चेष्टा करते हैं उनके ही मन में अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन ग्रन्थियों के परिणाम स्वरूप वे अपने आप पाप का प्रायश्चित न करके दूसरों पर उस पाप का आरोपण करते हैं और उनसे अपने पाप का प्रायश्चित कर-वाते हैं; अन्यथा उनकी भूलोंके लिये अपने प्रायश्चित करते हैं।

मनुष्य के मन में विलक्षण शक्ति है। हमारा मन ही अपने वातावरण की सृष्टि करता है। जिस प्रकार का मनुष्य का मन होता है उसका बाह्य वातावरण भी उसी प्रकार का हो जाता है। अपने अनुकूल व्यक्तियों को हमारा आन्तरिक मन ढूँढ़

लेता है। हमारी दृष्टि उन्हीं बातों पर पड़ती है जिन्हें जानना हमारे आन्तरिक मन के लिये आवश्यक है। जब हम अपने आपको स्वीकार नहीं करना चाहते तो हम ऐसे लोगों से अपने आपको घिरा पाते हैं जो हमें परेशान करते हैं। पर वास्तव में हम अपने आपसे ही परेशान होते हैं। दूसरे व्यक्तियों के दोषों से परेशान होना अपने आपको धोखा देना है। दूसरे लोगों में अपने ही दोष आरोपित हो जाते हैं। हमारा मन हमें ऐसे लोगों के पास ले जाता है जिनमें वे ही दोष होते हैं, जिन्हें हम अपने आप में भुलाये हुए हैं। निम्नलिखित उदाहरण इस तथ्य को प्रत्यक्ष करता है। लेखक के एक छात्र ने, जिसकी उम्र कोई २१ वर्ष है, उस से अपनी मानसिक परेशानी कही। उसने अपने एक सम्बन्धी के चरित्र के सुधार के विषय में लेखक से सलाह ली। उसने कहा कि इस व्यक्ति के कारण पूरे कुटुम्ब की बदनामी हो रही है। वह विवाहित है तिस पर भी व्यभिचार करता है। उसे कैसे सुधारा जाय। यह छात्र स्वयं बड़ा आदर्शवादी है और दूसरे लोगों के आचरण की नुक्ताचीनी किया करता है। इसे अनेक प्रकार से समझाया गया कि अपना कर्तव्य दूसरों को सुधारना नहीं है वरन् अपने आपको सुधारना है। दूसरों की भूलों से परेशान होना मूर्खता है। पर उसके मन में बात न बैठी। वास्तव में वह अपने सम्बन्धी के आचरण से अपने आपको दुखी बनाये हुये है। पर इस प्रकार की मनोवृत्ति से वह उस व्यक्ति का कल्याण न कर उसका नुकसान ही करता है। जब किसी व्यक्ति के ऊपर जबरदस्ती नैतिकता लादी जाती है तो उसके परिणाम स्वरूप मनुष्य या तो अधिक व्यभिचारी हो जाता है अथवा वह विक्षिप्त हो जाता है।

नैतिकता जब स्वाभाविक रूप से मनुष्य के चरित्र में आती है तब वह स्थायी रहती है बाहर से प्राप्त की गई नैतिकता बालू की भीत के समान एक ही झकोरे में ढह जाती है। इस प्रकार की नैतिकता लादने का वही लोग प्रयत्न करते हैं जिनके मनमें कोई मानसिक ग्रन्थि उपस्थित रहती है। ऐसे व्यक्ति अपने आप की ओर देख नहीं सकते, अतएव वे अपने आप को सुधारने के बदले संसार को सुधारने में लग जाते हैं। उन्हें फिर यह समझ आ जाती है कि वे कुछ भी भूल नहीं करते। दूसरों की भूलों का सुधार करना मात्र उनका काम है। वे अपनी भूलों के लिये उपवास आदि करते हुये कभी दिखाई नहीं देते, पर दूसरों की भूलों के लिये ही वे उपवासकरते हैं।

इस प्रकार के व्यवहार से मनुष्य को आत्मज्ञान का लाभ नहीं होता, वरन् उसकी मानसिक जटिलता बढ़ती है। हम दूसरे लोगों के चरित्र का सुधार अपना चरित्र-सुधार करके ही कर सकते हैं। आचरण की शिक्षा सबसे उच्च शिक्षा होती है। आचरण दूसरे मनुष्यों के अचेतन मन को प्रभावित करता है और उपदेश अधिकतर उसके चेतन मन तक ही रह जाता है। उपदेश से मनुष्य के बाह्य आचरण में परिवर्तन हो जाता है। पर इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने आचरण का ढिंढोरा न पीटे। अपने सदाचार का ढिंढोरा पीटने की इच्छा एक प्रकार की मानसिक बीमारी का परिणाम है। सच्चा सदाचार वह है जिसमें दूसरे लोगों को जनाने की इच्छा ही नहीं रहती। जब हम नैतिकताको अपने आप कीमत रखने वाली वस्तु समझने लगते हैं तो हम अपने सदाचार की ख्याति नहीं चाहते। पर नैतिकता की मौलिकता समझना तब तक

संभव नहीं जब तक मनुष्य के मन में किसी प्रकार की आत्म-हीनताकी ग्रन्थि है।

दूसरे लोगों का सुधार उनसे प्रेम करने से अपने आप ही होता है। उनकी आलोचना करने और उन्हें उपदेश देने से उनमें सुधार न होकर उलटा ही परिणाम होता है। या तो इससे मनुष्य में दुराचार की प्रवृत्ति बढ़ जाती है अथवा उसके मनमें आत्म-हीनता की भावना उत्पन्न हो जाती है, जिसके परिणाम स्वरूप वह अपना आत्मविश्वास खो देता है।

२१

पैसे का प्रेम

संसार के प्रत्येक धार्मिक शिक्षकों ने धन-सञ्चय को मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में बाधक बताया है। हमारे देश में सन्यासी लोगों को पैसा छूने तक का निषेध है। इसी तरह सच्चे बौद्ध भिक्षु भी पैसा नहीं छूते। हज़रत ईसा का कथन, कि सूई के छेद से ऊँट का निकल जाना सम्भव है; किन्तु धनी मनुष्य का स्वर्ग में घुसना सम्भव नहीं। महात्मा कबीर का कथन है--

> पानी बाढ़ो नाव में घर में बाढ़ो दाम।
> दोनों हाथ उलीचिए यही सयानो काम॥

धन-वृद्धि के प्रति धर्म-शिक्षकों की इस प्रकार की मनोवृत्ति होते हुए भी धनका संचय कोई व्यक्ति छोड़ता नहीं। पैसा सभी को प्यारा है। इसका कारण यह है कि पैसा उस दैत्य के समान है जो हजारों रूप धारण कर सकता है। सभी प्रकार के सुख की सामग्री पैसे से उपार्जित होती है। मनुष्य की सञ्चित शक्ति का माप पैसा है। जिसके पास पैसा नहीं उसके पास न अपनी, न दूसरे की भलाई करने का साधन रहता है। फिर ऐसे पदार्थ के प्रति प्रेम क्यों न हो।

पैसे का प्रेम न तो सरलता से छोड़ा ही जा सकता है और न समय के पूर्व उसका त्याग करना वांछनीय है। शक्ति-

हीन मनुष्य संसार का कोई लाभ नहीं कर सकता। जिस प्रकार विद्या शक्ति है उसी प्रकार धन भी शक्ति है। दोनों का संचय करना जीवन को सुखी बनाने के लिए आवश्यक है। गरीब बन कर रहना और गरीबी के लिए भाग्य को कोसना महान् पाप है।

मनुष्य को धन अवश्य ही कमाना चाहिए, किन्तु धन-संग्रह ही जीवन का लक्ष्य नहीं मान लेना चाहिए। धन साधन-मात्र है, साध्य नहीं। जब मनुष्य साधन को साध्य मान लेता है तो वह अपने-आप का विनाश करता है। धन कमाने का हेतु उसे भले काम में खर्च करना है, चाहे वह अपने लिए खर्च किया जाय अथवा दूसरों के लिए। खर्च किए जाने में ही धन संग्रह सार्थक होता है। अपने लिए धन का खर्च करना साधारण प्राकृतिक जीवन प्रदर्शित करना है। दूसरे के लिए धन खर्च करने में मनुष्य के दैवी गुणों का विकास होता है। जो मनुष्य कठोर परिश्रम करके धन कमाकर जितना ही अधिक निस्वार्थ भाव से दूसरों की सेवा में लगाता है वह विश्वात्मा में अपने आपको उतना ही अधिक लीन करता है। इस प्रकार के धन के सञ्चय से परमानन्द की प्राप्ति होती है।

धन संचय को स्वयं लक्ष्य बना लेना एक महान् मूर्खता है। कृपण मनुष्य के समान दयनीय व्यक्ति दूसरा कोई नहीं है। वह अपने आपका विनाश करता है और अपने आस पास के लोगों को भी दुःखी बनाता है। कृपण मनुष्य के विचार बड़े अनुदार होते हैं। यदि कोई अतिथि उसके घर आजाय तो इससे उसको सुख नहीं होता, दुःख होता है। उसे प्रत्येक व्यक्तिके प्रति संदेह होता रहता है। वह अपनी धन-रक्षा का सदैव चिंतन करते रहता है। इसके कारण न तो वह ठीक से

भोजन ही कर सकता है और न सुख की नींद सो सकता है। धन के लोभी व्यक्ति में दूसरे के विनाश के बड़े भयंकर विचार आते रहते हैं। ये विनाशक विचार दूसरों का तो अहित करते ही हैं स्वयं उस व्यक्ति का अहित भी करते हैं। विचार का यह स्वभाव है कि वह अपने ही जैसे दूसरे विचारों को बाहर से ले आता है। जिस प्रकार के विचार हम दूसरों के प्रति भेजते हैं दूसरे व्यक्ति भी वैसे ही विचार हमारे प्रति भेजते हैं। यदि हम कल्याण के विचार दूसरों के पास भेजें तो अदृश्य जगत से कल्याणकारी विचार हमारे समीप आते हैं और यदि हम विनाशकारी विचार दूसरों के पास भेजते हैं तो ऐसे ही विचार हमारे समीप भी आते हैं। जब ये विनाशकारी विचार हमारे मन में एक बार घुस जाते हैं तो हमारे मन में अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनाएँ उठने लगती हैं। कोई भी काम हाथ में लेते ही हमारे मन में भावनाएँ आने लगती हैं कि हम उसमें सफल न होंगे। उत्साह की जगह निरुत्साह मन-में छा जाता है। हम अपने आप को कोसने लगते हैं। यदि हम चाहें कि हम अभद्र कल्पनाओं का मन में उठना रोक दें तो हम अपने को असमर्थ पाते हैं। जिस मनुष्य का मन निर्बल हो चुका है वह किसी प्रकार के बुरे विचारों को अपने मन में उठने से नहीं रोक सकता। वह अपने विनाशकारी आत्म-निर्देशों को नहीं रोक सकता।

यदि कोई व्यक्ति चाहता है कि उसके मन में भले विचार उठें और बुरे विचार उसके मनमें आवें ही नहीं तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसे विचारों को मूल कारण खोजकर उसको हटावें। हम जिस प्रकार के विचार दूसरों के लिए मन में लाते हैं हमारे मन में वैसे ही विचार अपने सम्बन्ध में भी

उठने लगते हैं। धन का अत्यधिक प्रेम एक ऐसी मानसिक गुत्थी है जो अनेक प्रकार के अवांछनीय विचारों का पैदा करती है और जिसके कारण न हम दूसरों का कल्याण सोच सकते हैं और न अपना ही।

धन का अत्यधिक प्रेम स्वास्थ्य को विगाड़ देता है। मनुष्य का स्वास्थ्य उसके उदार विचारों पर निर्भर रहता है। अनुदार विचार मनुष्य को मृत्युन्मुख वनाते हैं। देखा गया है कि कृपण व्यक्तियों को सदा कोष्ठबद्धता की विमारी होती है। कोष्ठबद्धता की बीमारी जीवन के स्वाभाविक प्रवाह के रुकावट को दर्शाती है। जिस मनुष्य का आध्यात्मिक जीवन बहती हुई सरिता के समान नहीं होता वरन् एक बंधे तलाव के सदृश्य होता है उसका भौतिक जीवन भी उसी प्रकार बन जाता है। यदि कोष्ठबद्धता से पीड़ित व्यक्ति धन के प्रति अपनी ममता को त्याग दे तो उसके शरीर में ठहरने वाली गंदगी भी उसमें न रुके। जैसा मनुष्य का मन काम करता है उसका शरीर भी वैसा ही काम करने लगता है। जब मनुष्य के मन में प्रेम का स्रोत खुल जाता है तो उसकी सब प्रकार की मानसिक गंदगी बह जाती है। इस सफाई के साथ साथ उसकी शारीरिक शुद्धि भी हो जाती है। राल्फ वालदो ट्राईन महाशय अपनी पुस्तक "इन ट्यून विद दी इन्फिनिट" में इस व्यावहारिक आध्यात्मिक सत्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं कि प्रेम से पूर्ण व्यक्ति के शरीर में कोई रोग ठहर ही नहीं सकता। प्रबल प्रेम प्रवाह वह नदी है जो सभी गंदगी को साफ कर देती है।

देखा गया है कि धन संचय में दत्तचित्त रहने वाले व्यक्तियों को या तो सन्तान ही नहीं होती और यदि होती है

तो मर मर जाती है। कंजूस व्यक्ति के सन्तान उत्पत्ति न होने का कारण शारीरिक नपुंसकता ही नहीं होता उसमें प्रेमाभाव होने के कारण मानसिक नपुंसकता रहती है। जो मनुष्य सदा धन का चिन्तन करता रहता है और जो धन कमाना ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है वह दूसरे लोगों से प्रेम व्यवहार रखने में असमर्थ तो रहता ही है, वह अपने सम्बन्धियों से भी प्रेम नहीं कर सकता। जिस तरह सन्तान का भौतिक शरीर दो व्यक्तियों का मिलन का परिणाम है, इसी तरह उसका मानसिक शरीर उनके हृदयों के मिलने का परिणाम है। जब पति-पत्नि के हृदयों का मिलन नहीं होता तो सन्तानोत्पत्ति नहीं होती और यदि होती है तो वह निकम्मी होती है।

यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हृदय का मिलन बुद्धि की बात नहीं और न यह चेतन मन का कार्य है। यह प्रकृति की एक प्रकार की अज्ञात क्रिया है जो प्राणियों में जन्मजात है। सन्तानोत्पत्ति की इच्छा एक बहुत बड़ी आन्तरिक इच्छा है। इस इच्छा पर साधारणतः हमारी बुद्धि का कोई अधिकार नहीं रहता। इस लिए ही प्रत्येक प्राणी में सन्तानोत्पत्ति की शक्ति रहती है और वह सरलता से विषम-लिंगी प्राणी के प्रेम में फँस जाता है। किन्तु इस इच्छा में विकार उत्पन्न हो सकता है और कई दिनों के अभ्यास के पश्चात् उस पर विजय भी प्राप्त की जा सकती है। जब मनुष्य धन का निरन्तर चिन्तन करता है तो उसकी सन्तानोत्पत्ति की इच्छा में विकार उत्पन्न हो जाता है और उसके साथ साथ उसकी अपनी पत्नि के प्रेम करने की शक्ति भी नष्ट हो जाती है। जो मनुष्य सदा धन का चिन्तन करता रहता है उसे

अपनी प्रेयसी के विषय में चिन्तन करने का अवसर ही कहाँ है? और इस चिन्तन के अभाव में उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होना कैसे सम्भव है? जहाँ प्रेम नहीं वहाँ सुयोग सन्तान का पैदा होना सम्भव नहीं।

बहुत सें धनी लोगों की सन्तानें दो एक साल पश्चात् मर जाती हैं। इसका कारण भी माता-पिता के अशुभ विचार हैं जो धन के विषय में अधिक चिन्तन के परिणाम हैं। मनुष्य के विचार चाहे वे भले हों अथवा बुरे उसके आस-पास के लोगों को प्रभावित करते हैं। जिस व्यक्ति का जितना ही कम सुगठित व्यक्तित्व होता है उसके मन के ऊपर उतना ही अधिक दूसरे लोगों के विचार प्रभाव डालते हैं। बालकों का मन सुगठित नहीं होता अतएव जब कोई वातावरण में चलने वाला विचार उनके हृदय में घुस जाता है तो उनके जीवन पर बड़ा भारी प्रभाव डालता है।

हमें यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि विचार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक भाषा के माध्यम द्वारा ही नहीं जाते, वे अन्य प्रकार से भी जाते हैं और प्रबल विचार मनुष्य के चेतन मन को प्रभावित किए बिना सीधे अचेतन मन को प्रभावित कर देते हैं। बालकों में सोचने की शक्ति तो नहीं होती किन्तु उनमें हमारी भावनाओं से प्रभावित होने की शक्ति अवश्य होती है। हमारी भावनाएँ बालक को माता के गर्भ में आने के समय से प्रभावित करने लगती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान का कथन है कि जिन स्त्रियों को सन्तानोत्पत्ति की इच्छा नहीं रहती तिस पर भी गर्भ रह जाता है उनकी सन्तान में मरने की ओर प्रवृत्ति अधिक रहती है। कितने ही लोगों को दमा की बीमारी इसी कारण होती है।

अस्तु, माता-पिता के बुरे विचार सन्तान के हृदय में घर कर लेता है। जब इन विचारों की संख्या बहुत बढ़ जाती है तो बालक का जीना असम्भव हो जाता है। प्रबल घातक विचार इस प्रकार बुरे विचारों को मन में लाने वाले व्यक्ति का ही विनाश करते हैं। यही कारण है कि धन से प्रेम करने वाले लोगों की सन्तान दीर्घ जीवी नहीं होती है।

जिस प्रकार अनुदारता रोग और मृत्यु का कारण है इसी तरह उदारता स्वास्थ्य और आयुवर्द्धक है। जब कोई मनुष्य दान-पुण्य करता है तो वह इससे दूसरों का लाभ करे अथवा न करे अपना लाभ अवश्य करता है। वह अपने स्वास्थ्य की वृद्धि करता और सन्तान को भी दीर्घजीवी बनाता है। जो माता-पिता दूसरों के प्रति उदारता दिखाते हैं और उनकी सेवा में अपना संचित द्रव्य खर्च करते रहते हैं वे एक ओर अपने आप को सुखी बनाते हैं और दूसरी ओर अपनी सन्तान को दीर्घजीवी और निरोगी बनाते हैं। धन संचय बुरा नहीं, किन्तु उसे स्वयं लक्ष्य मान होना बुरा है। धन आत्मोत्सर्ग का साधन है। उसकी मौलिकता इसी में है। जहाँ तक इस लक्ष्य की प्राप्ति में धन से सहायता मिलती है वहाँ तक उसका संचय करना हमारा कर्तव्य है। अन्यथा उसका त्याग ही हमारे कल्याण के लिए अनिवार्य है। कृपणों का कल्याण तो इसी में है कि किसी न किसी प्रकार उनसे धन की ममता छुड़ा दी जाय। इसके लिए धन का विनाश होना ही अच्छा है।

२२

दाम्पत्य-प्रेम का प्रसार

संसार का प्रत्येक प्राणी प्रेम का भूखा होता है। मनुष्य के जीवन को प्रेम ही सार्थक बनाता है। प्रेम ही सुन्दरता का प्राण है। एक दूसरे की ओर आकृष्ट हम प्रेम के कारण ही होते हैं। दाम्पत्य जीवन का तो प्रेम ही आधार है। प्रेम ही सच्ची सगाई है। जब तक स्त्री और पुरुष में प्रेम रहता है तब तक उनका जीबन सुखी रहता है, जब प्रेम की कमी हो जाती है तो जीवन दुःखी हो जाता है।

दाम्पत्य प्रेम के तीन अङ्ग हैं—रति, प्रीति और आत्म-प्रसार। रतिका हेतु सुख है। यह सुख एक दूसरे से मिलन-आलिंगन आदि क्रियाओं से होता है। इसमें स्वार्थ भाव की प्रबलता होती है। इसमें प्रेमी के सुख की चिन्ता कम और अपने सुख की अधिक रहती है। जब तक प्रेमी से अपना स्वार्थ सिद्ध होता है उसके लिए प्रत्येक प्रकार का त्याग किया जाता है। जब उससे स्वार्थ सिद्ध नहीं होता तो उसे भुला दिया जाता है। इस प्रकार का प्रेम रूपवती स्त्री की खुशामद करने में प्रकाशित होता है। कामी पुरुष अथवा स्त्री रूप से मोहित हो जाते हैं। उनमें विवेक का अभाव हो जाता है। अपने सुख की इच्छा कभी-कभी निःस्वार्थ प्रेम के साथ में प्रकाशित होती है। रोमियो और जूलियट की प्रीति में यह देखा जाता है, पर उसका स्वार्थ पक्ष छिपता नहीं।

सुख की इच्छा तृप्त होने पर प्रीति निःस्वार्थ प्रेम का रूप धारण कर लेती है। निस्वार्थ प्रेम में रूप के प्रति मोह नहीं रहता, उसका प्रकाशन सेवाभाव में होता है। इस प्रकार के प्रेम का उदय एक व्यक्ति के दूसरे के साथ कुछ दिनों तक रहने से होता है। लेखक को इस प्रकार के प्रेम का एक उदाहरण स्मरण है। लेखक के एक मित्र का विवाह एक बड़ी रूपवती स्त्री से हुआ। कुछ काल के बाद इस महिला को चेचक की बीमारी हुई। उससे मुख का सौन्दर्य तो जाता ही रहा उसकी एक आँख भी गयी। अब वह स्त्री बदसूरत हो गयी। पर इस मित्र का उस स्त्री के प्रति वैसा ही भाव बना रहा जैसा कि पहले था। स्त्री जब स्वरूपवान् थी उसके सन्तान नहीं थी। वह बाँझ समझी जाने लगी थी। जब उसका रूप जाता रहा, तो मानो प्रकृति ने समीकरण करने के लिए उसका बाँझपन नष्ट कर दिया और वह सन्तानवान् हो गयी।

दाम्पत्य प्रेम का तीसरा रूप है सन्तानोत्पत्ति और उसकी सेवा। यह प्रेम का लक्ष्य है। इससे आत्मप्रसार होता है। सन्तान के द्वारा मनुष्य आत्मा की अनन्तता और अमरता का साक्षात्कार करता है। जब सन्तान की उत्पत्ति हो जाती है तो स्त्री पुरुष दोनों ही उसकी सेवा में लग जाते हैं। अब उन्हें एक दूसरे के प्रेम की उत्कट आकांक्षा नहीं रहती, दोनों का ही लक्ष्य एक हो जाता है। आत्मा का प्रसार सन्तान की सेवा से ही होता है। सन्तान की सेवा का भाव ही संसार की सेवा के भाव में प्रकाशित होता है। जिस व्यक्ति का समुचित आत्मविकास होता है वह अपनी सन्तान की ही सेवा करके नहीं रह जाता, वह सभी लोगों की सन्तान की सेवा

करता है। उसके लिए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का साक्षात्कार होता है।

प्रेम की प्रत्येक अवस्था का ठीक-ठीक से पार किया जाना दूसरी अवस्था के आने के लिए आवश्यक है। हमें यह भी ध्यान में रखना है कि प्रेम की प्रत्येक क्रिया और उसकी अवस्था अन्तिम लक्ष्य के लिए है। यह लक्ष्य आत्मा का प्रसार करना है। यह लक्ष्य सर्वथा काम करता है। प्रेम का यह लक्ष्य प्रेमियों को ज्ञात नहीं रहता, पर स्वयं प्रकृति इस लक्ष्य की ओर प्रेमियों को ले जाती है। मनुष्य के प्राकृतिक आचरणों में यह लक्ष्य अपने आप प्राप्त होता है। अप्राकृतिक जीवन में इस लक्ष्य की प्राप्ति में बाधा होने लगती है। जब पति-पत्नी सहवास का मुख्य लक्ष्य विषय भोग ही बना लेते हैं तो उनके जीवन में अनेक प्रकार की झंझटें उपस्थित हो जाती हैं। जो व्यक्ति सन्तान निरोध करते हैं, वे आत्मप्रसारके मार्ग को बन्द कर देते हैं। इस तरह मानसिक शक्ति का विकास न होकर उसके विरुद्ध आचरण होने लगता है। ऐसी अवस्था में अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। कभी कभी स्त्रियों को हिस्टीरिया की बीमारी इस लिए हो जाती है कि वे सन्तान निग्रह की चेष्टा करती हैं।

रति का विकास प्रीति में होता है और प्रीति का आत्म-प्रसार में। प्रीति को स्थिर बनाने के लिए रति भी आवश्यक है। रति का लक्ष्य सन्तानोत्पत्ति है। अतएव जब रति में इस लक्ष्य की अवहेलना होती है तो वह लक्ष्यहीन हो जाती है और वह मानसिक रोग का कारण हो जाती है। इसी तरह जब प्रीति प्रीतिमात्र रहती है तो भी वह मानसिक रोग का कारण बन

जाती है। प्रीति का लक्ष्य भी आत्मप्रसार है। अतएव रति के विना प्रीति भी मानसिक रोग उत्पन्न करती है।

कितनी ही स्त्रियाँ अपने पति से प्रेम के विषय में सन्देह किया करती हैं। इसी प्रकार कितने ही पुरुष अपनी स्त्रियों के विषय में व्यभिचार की धारणा बना लेते हैं। इसका कारण उनकी प्रेम-भावना की अतृप्ति है। सन्तान-निग्रह के उपायों को काम में लानेवाले दम्पतियों के जीवन में अनेक प्रकार के मानसिक रोग हो जाते हैं। स्त्रियों को हिस्टीरिया की बीमारी हो जाती है और पुरुषों को मानसिक नपुंसकता की। जब इस प्रकार के लोगों को सन्तान उत्पन्न हो जाती है तो उनकी ये बीमारियाँ नष्ट हो जाती हैं।

देर में विवाह होने पर भी मनुष्यों को अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। स्त्रियों में पुरुषों के प्रति और पुरुषों में स्त्रियों के प्रति अनेक प्रकार की दुर्भावनाएँ आ जाती हैं। देर से विवाह करने वाले पुरुषों की मानसिक नपुंसकता स्त्रियों के प्रति घृणा में प्रकाशित होती है और स्त्रियों का मानसिक बाँझपन पुरुषों से झगड़ा करने में। इस प्रकार के मानसिक विकार प्रेम की भूख को सन्तुष्ट न करने के कारण उत्पन्न होते हैं। बहुत दिनों तक अविवाहित रहना अप्राकृतिक जीवन व्यतीत करना है।

रति, प्रीति और आत्मप्रसार का लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार है। यह अपने आपके बृहत् रूप को देखना है। यह मानसिक शक्ति के शोध का परिणाम है। जो व्यक्ति पहले ही ऐसे कार्यों में लग जाता है जिससे आत्म-साक्षात्कार हो, उसे दाम्पत्य जीवन की आवश्यकता नहीं रहती। पर इस प्रकार मानसिक

शक्ति का शोध परिमित मात्रा में ही हो सकता है। सम्पूर्ण मानसिक शोध होना असम्भव नहीं तो दुःसाध्य कार्य अवश्य है। साधारणतः शक्ति के प्रवाह के साथ ही उसका शोध होता है। सारांश यह कि आत्म-साक्षात्कार के लिए दाम्पत्य जीवन की पूर्णता आवश्यक है। स्त्री और पुरुष दोनों को ही इस अवस्था तक पहुँचने के लिए सचेष्ट रहना चाहिये। सचेष्टता उनके जीवन को पूर्ण तो करेगी ही, उसे सुखमय भी बनायेगी।

२३

प्रेम का विकार

प्रेम आनन्द और स्वास्थ्य का मूल है। यह मैत्री-भावना का आधार है। प्रेम का विकार क्लेश, रोग और झगड़ा करने की भावना में प्रकाशित होता है। प्रत्येक स्त्री में पुरुष के प्रति स्वाभाविक प्रेम होता है। जब इस प्रेम में वाधा आने लगती है तो प्रेम के अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होने लगते हैं। प्रेम के विकार का सबसे सामान्य रूप झगड़े की मनोवृत्ति का उत्पन्न होना है।

लेखक के एक विद्वान मित्र अपनी धर्म-पत्नी की चर्चा करने लगे। उनकी धर्म-पत्नी उनसे खूब झगड़ा करती है। वह बात-बात में उन पर सन्देह करती है। वह किसी भी बात के लिये हठ कर बैठती है। मित्र का कहना है कि मैं उसे पीट भी देता हूँ पर तिस पर भी वह अपने झगड़े की आदत नहीं छोड़ती। उसकी हठ से मैं परेशान हूँ यदि सम्भव होता तो मैं उसे तलाक दे देता, पर वह मुझे बहुत प्यारी लगती है। अतः उसे मैं छोड़ भी नहीं सकता हूँ। वह मेरा कहना नहीं मानती, इतनी ही उसमें बुराई है। वह सन्देह करती है कि मैं किसी दूसरे व्यक्ति को प्यार करता हूँ।

बात ही बात में मेरे मित्र कह बैठे कि मुझे बहुत से लोग प्यार करते हैं। जो मेरे सम्पर्क में आते हैं वे मेरा साथ नहीं छोड़ना चाहते। वे घण्टों इसी तरह गप्प-सप्प में बिता देते

हैं। इसे देख कर मेरी स्त्री चिढ़ती है। वह मेरे मित्रों का घर में आना भी पसन्द नहीं करती। यदि उनकी कुछ खातिरदारी करना पड़े तो उसे बिल्कुल भार हो जाता है।

वास्तव में स्त्री का स्वभाव बड़ा इर्ष्यालु होता है। वह नहीं चाहती कि उसके पति के हृदय पर उसके सिवाय किसी दूसरे व्यक्ति का अधिकार हो अथवा कोई उसको स्त्री से अधिक प्रेम दिखावे। स्त्री की इर्ष्या समालिंगी व्यक्तियोंसे होना तो स्वाभाविक है विषम लिंगी व्यक्तियों से भी हो जाती है। इसका परिणाम पति से झगड़ा करने में प्रकाशित होता है। यदि सम्भव हुआ तो वह पति से प्यार करने वाले व्यक्ति का तिरस्कार या अपमान भी कर बैठती है।

प्रेम के भूख की एक विशेषता यह है कि जब उसकी तृप्ति सीधे रूप से नहीं होती तो विकृत रूप से उसकी तृप्ति की जाती है। प्रेम ही झगड़े के रूप में परिणित हो जाता है। जिस प्रकार प्रेम की अवस्था में दो प्रेमी एक दूसरे के बारे में सोचा करते हैं उसी प्रकार झगड़े की अवस्था में भी वे एक दूसरे के बारे में सोचा करते हैं। जब किसी व्यक्ति से हमारा झगड़ा हो जाता है तो दूसरी बातों का सोचना असम्भव हो जाता है। इस प्रकार प्रेमी लड़ कर अपने लक्ष्यप्राप्ति में समर्थ होता है। यह लक्ष्य प्रेमी के हृदय पर सम्पूर्ण अधिकार है।

देखा गया है कि जो व्यक्ति आपस में झगड़ा किया करते हैं, उनमें उदासीन रहने वाले अथवा विशेष सौजन्यता से व्यवहार करने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक प्रेम रहता है। जब लेखक कालेज में पढ़ता था तो उसके दो किशोरावस्था के मित्रों में झगड़ा होता रहता था। ये दोनों मित्र बड़ी सौजन्यता से लेखक के प्रति व्यवहार करते थे; पर जब उन

लोगों में एक भी कहीं दूसरी जगह चला जाता था तो दूसरे को बेचैनी हो जाती थी। लेखक के चले जाने से उनमें से किसी को बेचैनी नहीं होती थी। उनका स्वभाव एक दूसरे से विरोधी जान पड़ता था। एक विलासी थे और दूसरे देश-भक्त। पर देखा गया कि एक ने जब राजनैतिक कार्यों में भाग लेना आरम्भ किया और जब वह जेल गया तो दूसरा भी जेल चला गया।

बड़ा भाई अपनी बहन को अथवा बहन अपने भाई को बात-चीत में चिढ़ाने का प्रयत्न किया करते हैं। लेखक की लड़की शान्ति को, मुन्नू को चिढ़ानेवाली कविता ही सब से प्रिय लगती है। वह जितना अधिक चिढ़ता है वह उसको उतना अधिक चिढ़ाती है। पर शान्ति के विना मुन्नू घड़ी भर नहीं रहता। जब शांति विद्या के साथ खेलने लगती है तब मुन्नू बड़ा दुःखी होकर लेखक के पास आता और कहता है हम किसके साथ खेलें, शांति तो खिलाती ही नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि बार-बार चिढ़ाये जाने पर भी मुन्नू शांति के साथ खेलना पसन्द करता है। दाम्पत्य प्रेम के विषय में भी यह बात सत्य है।

कितनी ही कुमारियाँ अपने सम्बन्धियों से झगड़ती रहती हैं। लेखक के एक मित्र ने हाल ही में अपनी साली के झगड़ालू स्वभाव की चर्चा की। जब ये मित्र लेखक के पास आये तो उनकी साली लेखक के पास खड़ी थी। उसने अपने बहनोई को देखकर लेखक से कहा कि आप मेरे बहनोई हैं और मेरे ही लिए यहाँ आये हैं। इस समय यह मित्र हम लोगों से कुछ दूरी पर थे। ये मेरे भी परिचित व्यक्ति हैं, यह कुमारी

नहीं जानती थी। हम दोनों ही उनकी ओर बढ़े। इन महाशय ने मुझे नमस्कार किया और कहा कि मैं आप से ही मिलने आया था। ऐसा कह कर वे मुझ से बात करने लगे। बात करते-करते कुछ और लोगों से मिलते-जुलते ये घर की ओर चल दिये। उस कुमारी से बिना बोले ही उन्होंने वह स्थान छोड़ दिया। रास्ते में जाते समय उस कुमारी के बारे में बातचीत होने लगी। मैंने उस कुमारी की देशभक्ति और प्रतिभा की प्रशंसा की। उन्होंने कहा "वह बड़ी झगड़ालू है अभी कल ही उसने मुझसे झगड़ा किया था। वह किसी की बात मानने को तैयार नहीं है।"

इस घटना पर विचार करने से पता चला कि उस कुमारी का मन दुःखी करने के विचार से ही ये मित्र उस स्थान पर आये थे और उसे सुनाने के लिये ही मुझसे यह कहा था कि मैं आपसे मिलने के लिये ही कालेज आया हूँ। वे जानते थे कि उनकी साली समझेगी कि उसी से मिलने वे घर से आये हैं। वास्तव में साली की समझ ठीक थी, पर इस समय उनका आना विकृत रूप से अपना प्रेम प्रदर्शन करने के लिये था। जिस प्रकार उस कुमारी ने अपने बहनोई से झगड़ा करके अपने प्रेम का परिचय दिया; उसी प्रकार उनकी जानबूझ कर अवहेलना करके बहनोई ने भी अपने प्रेम का परिचय अपनी साली को दिया। वास्तव में दोनों एक दूसरे के बारे में ही उनकी अनुपस्थिति में सोचते रहते थे। यही उनके आपस के सच्चे प्रेम का प्रमाण है। यह कुमारी प्रेम के विषय में बड़ी [illegible] है, अतएव उसे सुना कर मेरे मित्र ने मुझसे कहा कि मैं आपसे ही मिलने आया।

प्रेम का विकार

जिन दो व्यक्तियों का आपस में झगड़ा होता रहता है, उनमें समय आने पर वास्तविक प्रेम का प्रकाश होता है। जब झगड़ा करने वाले व्यक्तियों में सौजन्यता का व्यवहार होने लगता है तो प्रेम का भी अभाव हो जाता है। झगड़ालू व्यक्तियों में सौजन्यता के व्यवहार का होना प्रेमाभाव का परिचायक है।

—— ——

२४

क्रोध

क्रोध शक्ति की कमी का परिचायक है। मानसिक शक्ति की कमी हो जाने पर क्रोध का वेग विवेक से रुकता नहीं। जब क्रोध आता है तो विवेक दूर भाग जाता है; जैसे कि उन्मत्त हाथी जब जंजीर तोड़ लेता है तो महावत दूर भाग जाता है। क्रोध के द्वारा मानसिक शक्ति का ह्रास भी होता है। कारण और कार्य एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। मानसिक शक्ति की कमी से क्रोध आता है और क्रोध से मानसिक शक्ति की कमी होती है। क्रोध साधारणतः दूसरों पर प्रकाशित होता है। उसका लक्ष्य दूसरों को हानि करना है। जब वह अपने लक्ष्य में सफल होता है तो मनुष्य को अपनी मानसिक शक्ति के ह्रास का शीघ्र पता नहीं चलता, किन्तु जिस समय क्रोध अपने लक्ष्य में सफल नहीं होता तो मनुष्य अपने आपको कोसने लगता है और अपनी कमजोरी की बड़ी तीव्रता से अनुभूति करने लगता है। यह अनुभूति आत्म-निर्देश बन जाती है, जिसके कारण मनुष्य वास्तव में कमजोर और निराशावादी बन जाता है।

इस मनोवैज्ञानिक तत्त्व की सत्यता शिव के धनुष के टूटने के बाद राम और लक्ष्मण का परशुराम से मिलने से स्पष्ट होती है। परशुराम अपने पिता की हत्या का बदला चुकाने के कारण तप-बल-क्षीण हो चुके थे। अतएव उनका क्रोध विवेक

के नियन्त्रण में नहीं रहता था। जो मनुष्य जितना ही संसार में लिप्त रहता है, वह उतना ही अपने मानसिक शक्ति को खो देता है। जिसमें जितनी अधिक मान और प्रतिष्ठा की इच्छा बढ़ी रहती है, उसमें मानसिक शक्ति की उतनी ही कमी रहती है। शक्ति के प्रदर्शन होने से मान-प्रतिष्ठा बढ़ती है। इससे जो पुरुष मोहित होता है, वह अपनी शक्ति का व्यर्थ ह्रास करने लगता है। परशुराम की कीर्ति बढ़ी थी और उनमें अभिमान सीमा से अधिक बढ़ गया था। अभिमान का बढ़ना आत्म-ज्ञान का ह्रास करता है, यह संयम तथा मानसिक शक्ति का विनाश करता है और क्रोध की उत्पत्ति करता है। अभिमानी पुरुष क्रोध के आवेश को नहीं रोक सकता। परशुराम सभा में आकर रामचन्द्र जी को अपनी शक्ति ह्रास का परिचय व्यर्थ क्रोध के प्रदर्शन द्वारा देने लगे। रामचन्द्रजी का तप-बल उस समय परशुराम से अधिक था। परशुराम के क्रोध-प्रदर्शन से वे उद्विग्न मन न हुए। इधर लक्ष्मणजी उनकी शक्ति नष्ट करने के लिये उन्हें चिढ़ाने लगे। जैसे जैसे वे क्रोधित होते थे उनका तपबल अर्थात् मानसिक बल नष्ट होता जाता था। उनका मानसिक बल जब अधिक नष्ट हो गया तो वे अपने आप को ही कोसने लगे। इस प्रकार नकी शक्ति और भी नष्ट हो गई।

क्रोध का आवेश आने पर वह साधारण चतुराई के विचारों से नियन्त्रित नहीं होता। क्रोध की अवस्था में मनुष्य विक्षिप्त सा हो जाता है। उसकी चतुराई उसके काम नहीं आती। चतुराई सांसारिक दृष्टि का नाम है। क्रोध इससे अधिक प्रबल होता है। क्रोध के रोकने के लिये विशेष दृष्टि की आवश्यकता है। क्रोध का निराकरण, विरक्ति भाव और प्रेम से

होता है । यदि संसार के प्रति अमोह का अभ्यास मनुष्य ने पहले किया है तो यह अभ्यास क्रोध आने की अवस्था में उसे विवेकहीन काम करने से रोक देता है। इस तरह क्रोध का आवेश भी नष्ट हो जाता है। क्रोध का स्वभाव है कि यदि वह क्षण भर के लिये रोक दिया जाय तो वह सब समय के लिये रुक जाता है। विलियम जेम्स का कथन है कि क्रोध आने पर दस तक गिनती कहो तो क्रोध विलीन हो जायगा। क्रोध की अवस्था में हम कभी कभी बालक जैसा व्यवहार करते हैं। पीछे ऐसे व्यवहारों पर आत्मग्लानि होती है, अथवा उन पर हँसते हैं। ऐसा एक बार होने पर भी कई बार ऐसा ही हम करते रहते हैं। यही जीवन का भारी रहस्य है। बड़े बड़े विद्वान जब क्रुद्ध होते हैं तो अपना सिर अपने आप ही फोड़ने लगते हैं; जिसको पाते हैं उसको पीटने लगते हैं; सामने आने वाली चीजों को तोड़ने फोड़ने लगते हैं। अपना ही नुकसान करने से उस समय उन्हें संतोष होता है। इस प्रकार बराबर क्रोध प्रदर्शन से उनका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है और कितने लोग समय के पूर्व मर जाते हैं। इन सब बातों को जान कर भी क्रोध रोके नहीं रुकता। फिर रोकने का उपाय क्या है? संसार की अनित्यता का विचार अभिमानका विनाशक है। जिन बातों से अभिमान की वृद्धि होती है, उन सभी को त्यागना चाहिये। अति संगत तथा चापलूस की बातें सुनने से अभिमान की वृद्धि होती है। अभिमान को वृद्धि मानसिक शक्ति के ह्रास का सूचक है। जिस प्रकार विद्युत शक्ति को रखने के लिये इन्सुलेटर की अवश्यकता है, इसी प्रकार जिस व्यक्ति को अपनी मानसिक शक्ति संचित रखना है, उसे जानबूझका प्रतिदिन अपने साथियों से थोड़ी देर के लिये अलग हो जाना

चाहिये। उसे सब समय समाज में न रहना चाहिये। समाज के लोगों में उनकी सेवा करने के लिये तथा अपने प्रेम-प्रदर्शन के लिये आना चाहिये ; पीछे उसे अपने आप में चला जाना चाहिये। जो मनुष्य किसी भारी विचार में लगा रहता है, वह सामाजिक कार्यों में उतना ही भाग लेता है जितना कि अति आवश्यक है। ऐसा करने से वह अपनी मानसिक शक्ति का ह्रास नहीं होने देता। उसके ध्वंसात्मक संवेग पहले से ही निर्बल हो जाते हैं और यदि वे किसी समय उत्तेजित हुए भी तो वह उन्हें सरलता से काबू में कर लेता है।

समाज में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—एक वे जो क्षण भर भी अकेले नहीं रह सकते। यदि उन्हें अकेले रहना पड़ जाय तो वे पागल हो जायँ, और दूसरे वे जो समाज में आने से डरते हैं। जबतक वे समाज में रहते हैं, सतर्क रहते हैं; वे सदा उससे भागने की चेष्टा में रहते हैं और जब वे उससे अलग हो जाते हैं तो अपने आपको सुखी पाते हैं। पहले प्रकार के व्यक्ति बहिर्मुखी कहलाते हैं और दूसरे प्रकार के अन्तर्मुखी। पहले प्रकार के मनुष्य प्रसन्न चित्त दिखाई देते हैं, पर होते हैं अशान्त। उनका क्रोध अति प्रबल होता है। वे सभी से अनेक प्रकार की आशा करते हैं। पर जब ये आशायें पूरी नहीं होतीं तो उनका क्रोध अपरिमित हो जाता है। जब इस क्रोध का प्रदर्शन किसी दूसरे व्यक्ति पर नहीं होता तो वह निराशा में परिणत हो जाता है। इस तरह समाज में अधिक रहने की इच्छा क्रोध और निराशामूलक होती है। यह इच्छा मनुष्य को परावलम्बी बनाती है और उसके स्वावलम्बन को नष्ट करती है। ऐसी ही अवस्था में क्रोध हमें उसके आवेश में बहा

लेता है। हम जिस प्रक्रिया से स्वावलम्बी बनते हैं उसी से क्रोध पर विजय पाते हैं। अन्तर्मुखी होना स्वार्थी बनना नहीं है। जो दूसरों की सेवा से बचना चाहते हैं वे वास्तव में अन्तर्मुखी नहीं हैं, वे स्वार्थी हैं। अन्तर्मुखी व्यक्ति दूसरों की सेवा करने में सबसे आगे और दूसरों से सेवा ग्रहण करने में सबसे पीछे रहता है। सेवा करना तपस्या है, और सेवा ग्रहण करना तपस्या का विनाश है।

मनुष्य का मन क्रोध के बार बार प्रदर्शन से निर्बल हो जाता है। एक बार क्रोध का प्रदर्शन, चाहे वह किसी व्यक्ति के प्रति क्यों न हो, दूसरी बार क्रोध के आगमन को सरल करता है। प्रत्येक भाव के संस्कार हमारे अदृश्य मन में रहते हैं और इन संस्कारों के अनुसार हमारा आचरण बनता जाता है। जो व्यक्ति अपने कुसंस्कारों को तुरन्त मिटा देता है, वह बड़ा बुद्धिमान है। क्रोध के संस्कार प्रेम से मिटते हैं। जिस व्यक्ति के प्रति क्रोध किया जाय उसके प्रति शीघ्रातिशीघ्र प्रेम प्रदर्शन करना आवश्यक है। कभी भी अपनी भूल को स्वीकार करना बुरा नहीं है। भूल स्वीकार करने से मन बलवान होता है और उसकी भूल करने के प्रवृत्ति जाती रहती है। यहाँ यह सोचना उचित नहीं है कि क्रोध जिस व्यक्ति पर किया गया वह तुच्छ है अथवा उससे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। हमें दूसरों से कुछ प्रयोजन भले न हो अपने आपसे तो अवश्य प्रयोजन है। दूसरों के प्रति क्रोध करके हम अपने आप के प्रति अन्याय करते हैं। इस अन्याय का प्रतिकार तुरन्त करना हमारे मानसिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है। अन्याय का प्रतिकार न करने से अन्याय की प्रवृत्ति प्रति क्षण बढ़ती जाती है,

जिसका आगे चलकर, भयंकर परिणाम होता है। अन्याय का प्रायश्चित पश्चात्ताप से नहीं , न्याय से होता है। दूसरों के प्रति किये गये अनर्थ का परिणाम उनकी सेवा से नष्ट हो जाता है। क्रोध के संस्कारों का विनाशक आत्मग्लानि नहीं, प्रेम अथवा मैत्री भावना का अभ्यास है। आत्मग्लानि उसका स्वाभाविक परिणाम है। प्रेम, क्रोध और उसके सभी परिणामों को नष्ट कर देता है। प्रेम से क्रोध के द्वारा खोई हुई मानसिक शक्ति फिर चली आती है। इससे निर्भीकता भी आती है और आत्मग्लानि का भी अन्त होता है।

२५

प्रतिकार

प्रतिकार की मनोवृत्ति सभी प्राणियों में वर्तमान होती है। प्राणि-मात्र की चेतना शरीरबद्ध है। पशु वर्ग के प्राणियों में जब कोई दूसरा प्राणी उसके शरीर को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाता है तो वह स्वभावतः बदला लेने की चेष्टा करता है। यह प्रवृत्ति मनुष्यों में भी पाई जाती है। किसी किसी मनुष्य में प्रतिकार की मनोवृत्ति पशुओं से भी अधिक प्रबल होती है। जिस मनुष्य का अहंकार जितना अधिक है उसमें उतनी ही प्रबल प्रतिकार की इच्छा होती है। अभिमानी मनुष्य अपने आत्मसम्मान को थोड़ी सी ठेस लगने पर दूसरों का सर्वनाश करने के लिये उद्यत हो जाते हैं।

प्रतिकार की मनोवृत्ति की निन्दा संसार के सभी महात्माओं और महर्षियों ने की है। प्रतिकार की मनोवृत्ति मनुष्य को सदा दुख में रखती है और अन्त में उसका विनाश कर देती है। इसलिये महात्माओं ने सलाह दी कि इससे जितना ही शीघ्र मुक्त हो जाया जाय, उतना ही अच्छा है। महात्मा ईसा ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि कोई व्यक्ति तुम्हारी चादर छीन ले तो उसे तुम अपना कोट उतार कर दे दो। यदि कोई तुम्हारे गाल पर एक तमाचा जड़ दे तो तुम उसकी तरफ दूसरा गाल भी कर दो। किसी व्यक्ति को अपने प्रति

अत्याचार करने के लिये न कोसो। सदा सबके कल्याण की इच्छा करो।

आधुनिक जड़वाद के युग में महात्मा ईसा के उक्त उपदेश की खिल्ली उड़ाई जाती है। इस प्रकार के उपदेशों को अव्यवहारिक ही नहीं, अपितु निरी मूर्खता समझा जाना है। कहा जाता है कि यदि हम अपने ऊपर किये जाने वाले अत्याचारों का बदला चुकाने के लिये तैयार न रहें तो दूसरे लोग हमारा विनाश कर डालें। अतएव किसी भी अत्याचार का बदला चुकाना व्यवहार कुशलता ही नहीं, धर्म है। पर इस प्रकार का जड़वादी विचार न तो सामाजिक जीवन के लिये हितकर है और न इससे वैयक्तिक जीवन सुखी रह सकता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने किये गये अत्याचार का बदला चुकाना अपना धर्म बना ले तो एक बार किसी प्रकार अनर्थकारी घटना घटित होने पर शान्ति की स्थापना असम्भव हो जाय। यदि शान्ति स्थापना वांछनीय है तो बदला लेने की मनोवृत्ति का अन्त होना ही आवश्यक है। प्रतिद्वन्द्वियों में से किसी न किसी व्यक्ति को बदला लेने से अपने आपको रोकना पड़ेगा, तभी शान्ति स्थापित हो सकती है। बदला लेते रहने से समाज सदा अशान्त रहेगा। पर हम बदला लेने की मनोवृत्ति का निवारण प्रारम्भ में जितनी सरलता से कर सकते हैं पीछे नहीं कर सकते। जब मनुष्य किसी विशेष प्रकार के विचार से बार बार उद्विग्न मन हो जाता है तो वह विचार उसकी चेतना से अलग हो जाने पर भी मनुष्य के अदृश्य मन में एक गाँठ के रूप में बैठ जाता है। जिस मनुष्य के मन में जितनी अधिक गाँठें हैं उसका मन उतना ही अपने वश में नहीं रहता। वह अपने किसी विचार को बुरा जान कर भी उससे मुक्त नहीं हो सकता।

प्रतिकार की भावना का यदि प्रारम्भ में ही नाश न कर दिया जाय तो प्रतिकार के विशेष पात्र के अभाव में यह मनोवृत्ति किसी दूसरे व्यक्ति को अपना शिकार बना लेती है। इस तरह बदला लेने की उग्र मनोवृत्ति वाला मनुष्य आस पास के लोगों में किसी को अपना शत्रु ढूँढ़ लेता है। वह किसी न किसी व्यक्ति के प्रति स्वभावतः दुश्चिन्तन करने लगता है।

प्रतिकार की मनोवृत्ति हमसे दूसरों के प्रति अनेक प्रकार का अन्याय कराती है। मनुष्य स्वभावतः ही अपने विचारों में अपने प्रति अति उदार और विपक्षी के प्रति अनुदार होता है। अतएव मन की साधारण स्थिति में भी किसी विवादग्रस्त अवस्था में अपने विरोधी के प्रति हमें न्यायपूर्ण विचार करना प्रायः असम्भव है। किन्तु, जिस समय हमारा मन क्रोध के आवेश में हो, हम अपने विरोधी के प्रति कैसे न्याय कर सकते हैं। जिस हानि का कारण हम दूसरों को ठहराते हैं, सम्भव है वह उस हानि का कारण न हो। उसका हेतु उतना बुरा न हो जितना कि हमने उसे बुरा मान लिया है। क्रोध की अवस्था में दूसरे व्यक्ति के समझने में कितने ही प्रकार की भूलें होती हैं; इनके कारण हम अपने प्रति की गई भलाई को भी बुराई समझने लगते हैं। दूसरों के कार्यों के हेतु को ठीक-ठीक समझने के लिये हमें पहले अनुद्विग्न मन होना आवश्यक है, और यह प्रतिकार की मनोवृत्ति की अवस्था में असम्भव है।

बदले की मनोवृत्ति अपने आपका ही विनाश कराती है। इस मनोवृत्तिके कारण हम अपने शत्रुओं को किसी समय मित्र नहीं बना सकते तथा दिन प्रतिदिन उनकी संख्या बढ़ाते जाते हैं। उदारता और क्षमा की मनोवृत्ति जिस प्रकार मित्रों की सृष्टि करती है उसी तरह अनुदारता और प्रतिकार की मनोवृत्ति

शत्रुओंकी सृष्टि करती है। विक्षिप्त अवस्था में ऐसी मनोवृत्ति का व्यक्ति प्रत्येक मनुष्य को अपना दुश्मन ही देखता है। वह सोचता है कि संसार के सभी लोग उसके प्रति षड़यन्त्र रच रहे हैं।

प्रवल प्रतिकार की मनोवृत्ति वाला व्यक्ति यदि किसी ऐसे स्थान में रख दिया जाय जहाँ वह किसी व्यक्ति को अपना शत्रु न बना सके, तो वह अपने आप को ही अपना शत्रु बना लेगा। वह सदा अपने आप को कोसेगा। उसका जीवन सदा निराशा में बीतेगा। यदि इस प्रकार की मनोवृत्ति का सुधार न किया जाय तो उसका अन्तिम परिणाम आत्मघात होता हैं। मनोविज्ञान का यह अमिट सिद्धान्त है कि कोई भी उद्वेग आश्रयहीन नहीं रहता। कोई सुखदाई अथवा विनाशकारी संवेग जिस समय किसी वाह्य पदार्थ को अपना आश्रय नहीं बना पाता तो वह आश्रयहीन न हो कर आत्मा को ही अपना आश्रय बना लेता है। अर्थात् बाह्य पदार्थ के अभाव में सुखद या दुखद उद्वेग स्वयं नष्ट नहीं होता वह अपने आप पर ही अवलम्बित हो जाता है। कोई भी बुरा विचार यदि दूसरे सद्विचार द्वारा नष्ट न किया जाय तो वह किसी न किसी व्यक्ति की हानि अवश्य करता है। जब तक बाह्य जगत में वह अनर्थ कर सकता है वह ऐसा करता है, नहीं तो वह अपने जन्मदाता का ही अनर्थ करता है। इसी तरह सद्विचार भी किसी न किसी व्यक्ति का कल्याण करता है; और यदि कोई व्यक्ति उस कल्याण का पात्र न मिला तो वह अपने आपका ही कल्याण करता है। प्रत्येक विचार की शक्ति अपने विरोधी विचार के द्वारा ही नष्ट होती है, अन्यथा नहीं। कल्याण के विचार अन्त में आत्मा का कल्याण करते हैं और विनाश के विचार अन्त में आत्म-विनाश

करते हैं। अतएव जो व्यक्ति दूसरे को क्षमा करता है वह अपने आप को ही क्षमा करता है। जो संसार के सभी प्राणियों के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास करता है वह अपने आपको ही अपना मित्र बनाता है। इसी तरह शत्रु-भावना अपने आप को शत्रु बनाती है। एक आनन्द की जननी है और दूसरी दुःख की। एक का अन्तिम परिणाम आत्मोद्धार है और दूसरे का आत्म-विनाश।

२६

ईर्ष्या

ईर्ष्या एक व्यापक मनोभाव है। बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, धनी-गरीब सबको ईर्ष्या होती है। जब कोई मनुष्य अपने बराबरी के मनुष्य की वृद्धि देखता है तो उसे ईर्ष्या होती है। पुराणों का कथन है कि देवता भी दूसरों की वृद्धि नहीं देख सकते। जब वे किसी को बढ़ते देखते हैं तो उसको गिराने की चेष्टा करने लगते हैं। जब मनुष्य दूसरे को बढ़ता देखता है तो उसके हृदय में दो प्रकार के मनोभाव उठते हैं—एक सकारात्मक और दूसरे नकारात्मक। सकारात्मक विचारों के आने पर मनुष्य अपने आप की वृद्धि करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति को स्पर्धा कहते हैं। यह मनुष्य की उन्नति का कारण होता है। जो मनुष्य अकेले रहने पर किसी प्रकार की अपने आपकी उन्नति करने में मन नहीं लगाता वही समाज में आकर अपनी उन्नति करने में मन लगाता है। दूसरों की बढ़ती देखकर उसकी भी बढ़ने की इच्छा होती है। बालकगण जितना क्लास में रहकर पढ़ लिख सकते हैं, अकेले उतना नहीं पढ़-लिख सकते। प्रत्येक बालक की इच्छा होती है कि दूसरे बालक उससे आगे न निकल जायँ। अतएव जब और बालक परिश्रम करते हैं तो विशेष बालक भी परिश्रम करने लगता है। जिस क्लास में दो एक परिश्रमी बालक नहीं होते उस क्लास की पढ़ाई भी बिगड़ जाती है,

शिक्षक चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति के प्रति स्पर्धा रहना बुरा नहीं है। कई एक विद्वानों ने इसे भी बुरा माना है। उनका कथन है कि मनुष्य को अपने आप से ही सदा तुलना करनी चाहिये। उसे अपनी तुलना दूसरों से कदापि न करनी चाहिये। इस प्रकार मनुष्य थोड़े ही दिन में दूसरों का ईर्ष्यालु हो जाता है। उनके इस कथन में बहुत कुछ सत्य है। किन्तु मनुष्य को एकाएक अन्तर्मुखी नहीं बनाया जा सकता। अपने आपकी उन्नति का विचार रखना और दूसरों के विषय में कुछ न सोचना यह कितने ही दिनों की साधना के पश्चात् आता है। अतएव स्पर्धा मनुष्य की उन्नति के लिए एक अनिवार्य मनोभाव माना गया है।

जहाँ स्पर्धा सकारात्मक मनोभाव है, ईर्ष्या नकारात्म मनोभाव है। स्पर्धा करने वाला व्यक्ति अपनी उन्नति चाहता है, वह दूसरों को अवनत नहीं करना चाहता; वह दूसरों को अपने स्थान से गिराने की चेष्टा नहीं करता। ईर्ष्यालु पुरुष अपनी उन्नति न कर दूसरे को अपने स्थान से गिराने की चेष्टा करता है। वह स्वयं अपनी उन्नति नहीं कर सकता और दूसरों की भी वृद्धि देख नहीं सकता। जहाँ कहीं किसी की उन्नति का समाचार सुना, उसे भारी मानसिक पीड़ा होती है। वह समझता है कि उसकी उन्नति होना ठीक नहीं। उन्नत पुरुष के पतन का वृत्तान्त सुनने में उसे आत्मसन्तोष होता है। जहाँ तक उससे बनता है वह उसे गिराने की चेष्टा करता है। यदि वह वास्तव में नहीं गिरा सकता तो वह अनजाने ही दूसरों की दृष्टि में उसे गिराने की चेष्टा करता रहता है। वह उसकी निन्दा करके आत्मसन्तोष पाता है। ईर्ष्या निन्दा की

मनोवृत्ति की जननी है। सभी मनुष्यों को दूसरे की बड़ाई सुनकर उतना आनन्द नहीं आता जितना कि उसकी निन्दा सुनने में आता है। जो व्यक्ति अपने आप दूसरों की निन्दा नहीं करते, वे दूसरों की निन्दा सुनकर आत्मसंतोष पाते हैं। चतुर मनुष्य अपने आप दूसरों की निन्दा न कर, दूसरों द्वारा ही अन्य व्यक्तियों की निंदा कराते रहते हैं और उन्हें ऐसे कार्य में प्रोत्साहन देते रहते हैं। इस प्रकार उनकी ईर्ष्या भी तृप्ति पाती रहती है और वे स्वयं दूसरों की निन्दा के परिणाम से बच जाते हैं। ईर्ष्या के मनोभाव से न तो ईर्ष्यालु व्यक्ति की उन्नति होती है और न ईर्ष्या किये गये व्यक्ति की। इससे दोनों का ही पतन होता है। ईर्ष्या किये गये व्यक्ति का पतन पीछे होता है पर ईर्ष्यालु मनुष्य का आध्यात्मिक पतन तुरन्त ही होता है। जब मनुष्य ईर्ष्या के कारण बार-बार दूसरे के पतन की इच्छा करने लगता है तो उसके इस प्रकार के नकारात्मक विचार उसी के शत्रु बन जाते हैं। वह ईर्षित व्यक्ति से डरने लगता है। वह उससे अनेक प्रकार की हानि की आशंका करने लगता है। वह सदा उसके साथ सतर्कता से व्यवहार करता है। वह उसके साथ ऐसा व्यवहार करता है मानो कि वह मित्र के रूप में शत्रु हो। इस प्रकार के व्यवहार से वह दूसरे व्यक्ति को अपना वास्तविक शत्रु बना लेता है।

ईर्ष्या की भावना एक बार जब किसी व्यक्ति के मन में स्थान पा लेती है तो वह अपना विषय बदलती रहती है। जब ईर्ष्या का आधार एक व्यक्ति नहीं रहता तो दूसरा व्यक्ति ईर्ष्या का आधार बन जाता है। जो व्यक्ति एक व्यक्ति से ईर्ष्या करता है वह किसी दूसरे का भी ईर्ष्यालु हो जाता है। ईर्ष्या

एक प्रकार की मानसिक ग्रन्थि है। एक बार इस ग्रन्थि के पड़ जाने से उसका निवारण होना कठिन हो जाता है। मनुष्य का मन जब विकृत हो जाता है तो वह अपने आस पास शत्रुओं को पैदा कर लेता है। पहले वह शत्रुओं की कल्पना करता है, पीछे वह वास्तव में ही अपने आपको शत्रु से घिरा पाता है। जब ईर्ष्यालु व्यक्ति के सामने कोई व्यक्ति ही नहीं रह जाता तो वह अपने आपको ही कोसने लगता है। वह अपने आपको अभागा मानने लगता है। अर्थात् जो ध्वंसात्मक विचार अभी तक किसी बाह्य पदार्थ के ऊपर आरोपित किये गये थे वे विचार अब आत्मा को ही अपना आश्रय बना लेते हैं। ऐसा होने से जितने प्रबल संवेग के साथ हम दूसरों के नाश की इच्छा करते थे, उतने ही प्रबल संवेग के साथ हम अपने आपके नाश और की इच्छा करने लगते हैं।

ईर्ष्यालु मनुष्य कदापि सुखी नहीं रह सकता। वह सदा बेचैन रहता है। वह अपने आस पास के लोगों को अपना शत्रु बनाये रखता है और उनके भय से सदा भयभीत रहता है। उसके स्वप्न अच्छे नहीं होते। ईर्ष्या के बढ़ जाने पर नींद ठीक से नहीं आती। एक बुरे मनोभाव से दूसरे बुरे मनोभाव की वृद्धि होती है। ईर्ष्या घृणा में परिणत हो जाती है। जब कोई मनुष्य दूसरे को गिराने में असमर्थ रहता है तो वह उसे घृणा करके ही सन्तोष पा लेता है। मनुष्य में ईर्ष्या तभी तक रहती है जब तक वह दूसरे व्यक्ति को अपने से ऊँचा समझता है। ईर्ष्या अधिक काल तक एकसी नहीं बनी रहती। ईर्ष्यालु व्यक्ति अपने आत्मसन्तोष के लिये ईर्ष्या किये गये व्यक्ति के दुर्गुणों को जानने की चेष्टा करता है और जब उसे उनके दुर्गुणों का ज्ञान हो जाता है तो फिर वह उस व्यक्ति के प्रति घृणा का

भाव प्रदर्शित करता है। घृणा मनुष्य को दूसरों का पतन चाहने में नैतिक आधार देती है। घृणित व्यक्ति का पतन चाहना बुरा नहीं समझा जाता।

ईर्ष्या की मनोवृत्ति से प्रत्येक व्यक्ति के लिये मुक्त होना आवश्यक है। किन्तु ईर्ष्या की चिकित्सा के पूर्व ईर्ष्या के कारण को समझ लेना चाहिये। ईर्ष्या एक प्रकार की मानसिक बीमारी है। किसी भी बिमारी को आने से रोकना उसकी चिकित्सा करने से कहीं अच्छा है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से ईर्ष्या व्यक्ति की आत्महीनता मानसिकग्रन्थि का परिणाम है। जो बालक बचपन में अतित्रस्त होता है, जिसे अपने माता-पिता और परिवार के लोगों से उचित सम्मान नहीं मिलता, उसके मन में आत्महीनता की ग्रन्थि बन जाती है। वह दूसरों की वृद्धि कदापि नहीं चाहता। वह देखता है कि दूसरे बालक की वृद्धि होने पर दूसरे बालक की ओर सभी लोगों की दृष्टि जाती है और उसे कोई पूछता नहीं, अतएव वह अपने मन में दूसरे बालक के पतन की इच्छा करने लगता है। यही ग्रन्थि आगे चलकर मनुष्य को सभी उन्नति करने वाले मनुष्यों का ईर्ष्यालु बना देती है।

स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा ईर्ष्या की मात्रा अधिक होती है। एक स्त्री दूसरी स्त्री की उन्नति नहीं देख सकती। जिस तरह स्कूल के लड़के एक दूसरे के साथ मिलकर पढ़ लेते हैं उस प्रकार लड़कियाँ एक दूसरे के साथ मिलकर नहीं पढ़तीं, और कालेज में तो महिलाओं से एक दूसरे की सहायता की आशा करना व्यर्थ है। गुलाम लोग स्वतन्त्र लोगों की अपेक्षा अधिक ईर्ष्यालु होते हैं। प्रायः नौकरों में आपस में बड़ी ईर्ष्या रहती है।

इस प्रकार की स्थिति का कारण आत्महीनता की मानसिक ग्रन्थि ही है। लड़कियों को लड़कों की अपेक्षा घर में कम महत्व का स्थान दिया जाता है। उन्हें माता-पिता प्रायः भार रूप मानते हैं। उनका बात बात में तिरस्कार किया जाता है। इसलिये वे लड़कों के प्रति ईर्ष्या-भाव रखती हैं। यही ईर्ष्या-भाव रुपान्तरित होकर भिन्न भिन्न व्यक्तियों पर आरोपित होता रहता है, अर्थात् वह अपना विषय परिवर्तन करता रहता है। जिस व्यक्ति में आत्महीनता की मानसिक ग्रन्थि पड़ जाती है, वह सभी का ईर्ष्यालु रहता है। वह सदा अपने आपको दूसरों से भला या बड़ा सिद्ध करने की चेष्टा करता रहता है। जो लड़का पीटा जाता है वह बड़ा होने पर दूसरों को पीटकर अपनी आत्महीनता की ग्रन्थि का प्रतिकार करता है। निर्धन घर में पैदा हुआ बालक बड़ा होने पर यदि धन प्राप्त करले तो वह उसे सभी को दिखाता फिरता है। इसी तरह सम्मानहीन कुटुम्ब में पैदा हुआ बालक अपनी प्रौढ़ावस्था में दूसरों से सम्मान पाने की विशेष चेष्टा करता रहता है। वह दौड़ दौड़ कर ऐसे स्थान पर जाता है जहाँ उसे कुछ सम्मान पाने की आशा होती है। जो बचपन में तिरस्कृत रहता है, वह किसी भी व्यक्ति के सम्मानित होने से प्रसन्न नहीं होता।

भले घर में पाले गये बालकों में ईर्ष्या की कमी होती है। जिस बालक में आत्मोद्धार के विचार प्रबल हैं, वह भी दूसरों से ईर्ष्या नहीं करता। काम में लगा हुआ व्यक्ति अपने आप में ईर्ष्या का विचार, आने का मौका ही नहीं देता। ईर्ष्या के विचार जितने निकम्मेपन में आते हैं उतने काम में लगे रहने पर नहीं आते। ईर्ष्या के विचार एक ओर निकम्मेपन से उत्पन्न होते हैं और दूसरी ओर मनुष्य को और भी निकम्मा बनाते

हैं। ईर्ष्यालु मनुष्य अपने नकारात्मक विचारों के कारण किसी भी काम को सरलतापूर्वक नहीं कर पाता।

ईर्ष्या के निवारण के लिये व्यक्ति का वातावरण भला बनाना चाहिये। बालकों का प्यार से लालन पालन करने से उनमें ईर्ष्या की मानसिक ग्रन्थि कदापि नहीं बनतीं। किसी बालक के प्रति तिरस्कार का भाव न लाना चाहिये। उसे दूसरे बालकों की अपेक्षा नीचा न दिखाना चाहिये। बालक को सदा अपने काम में उत्साह देते रहना चाहिये। उसको दूसरे बालक से तुलना कर नीचा न सिद्ध करना चाहिये। जिस बालक में बचपन से ईर्ष्या के भाव न उठेंगे वह प्रौढ़ावस्था में कदापि ईर्षालु न होगा। हम देखते हैं कि गरीब घर का बालक धनी-घर के बालक से अपनी प्रौढ़ावस्था में अधिक ईर्षालु होता है। इसी तरह एकाएक बढ़ जाने वाले व्यक्ति में भी ईर्ष्या अधिक रहती है। इसका कारण उनका बढ़ जाना नहीं, वरन् पिछले तिरस्कार के संस्कार हैं। यदि बालक को पहले से ही भली दृष्टि से देखा जाय तो ईर्ष्या का कारण ही न रहे।

ईर्ष्या के निवारण के हेतु मनुष्य को निम्नलिखित योग सूत्र में बताई हुई चार भावनाओं का अभ्यास करना चाहिये—मैत्री, करुणा; मुदिता और उपेक्षा। सब लोगों से मैत्री भाव स्थापित करना और सबकी वृद्धि चाहना यह मैत्री-भावना का स्वरूप है; दूसरे के दुःख में दुःख मानना, उनसे सहानुभूति प्रगट करना यह करुणा है; दूसरे की उन्नति में प्रसन्नता प्रगट करना मुदिता है और दूसरों के अवगुणों का चिंतन न करना उपेक्षा है। हम दूसरों के प्रति अहित विचार लाकर अपने आपके ही शत्रु बन जाते हैं। अतएव दूसरे के हित का चिंतन करके ही हम अपने आपके मित्र बन सकते हैं। किसी भी दुर्भावना

के प्रभाव को विपरीत भावना के द्वारा नष्ट किया जा सकता है। स्वार्थ भावना के प्रभाव को लोक-सेवा की भावना से नष्ट किया जा सकता है; वैर भावना के प्रभाव को मैत्री-भावना के अभ्यास से नष्ट किया जा सकता है। इसी तरह ईर्ष्या की मनोभावना के दुष्परिणाम को दूसरों की वृद्धि की दृढ़ इच्छा करने से मिटाया जा सकता है। हम जितने संवेग के साथ दूसरों के पतन की इच्छा करते हैं, उतने ही संवेग के साथ जब हम दूसरों की उन्नति की इच्छा करने लगें तो हमारे पुराने दुश्चिन्तन का परिणाम नष्ट हो जाता है।

हमें ध्यान रखना चाहिये कि हमारे मन के बुरे विचार हमें ही सबसे अधिक हानि पहुँचाते हैं। संसार में जिन लोगों को हम अपना शत्रु और मित्र देखते हैं वे हमारी कल्पना मात्र हैं। हमारे विचार ही दूसरे लोगों में मित्र और शत्रु भावना का आरोपण करते हैं। जिस तरह बुरे विचारों से हमारा विनाश होता है, भले विचारों के स्वागत से हमारा कल्याण होता है। भले विचार, सकारात्मक और उत्साहवर्धक होते हैं, बुरे विचार नकारात्मक और निराशा बढ़ाने वाले होते हैं। एक प्रकार के विचार सृजनात्मक और दूसरे प्रकार के ध्वंसात्मक होते हैं।

२७

निर्भीकता

भय सभी प्राणियों का अनुभव है । प्रकृति ने भय की उत्पत्ति प्राणियों की रक्षा के लिये की है । जो प्राणी भयहीन होता है, वह आगे पीछे का विचार नहीं करता, और अपने प्राणों का अन्त सहज में ही कर देता है । पतिङ्गा दीपक से डरता नहीं, इसलिये जल-भुनकर खाक हो जाता है । अतएव अपने प्राण की रक्षा के लिये प्राणियों में उचित भय रहने की आवश्यकता है । जब भय सीमा से अधिक हो जाता है तो प्राणी की रक्षा न कर वह उसका विनाश कर डालता है । भय के आवेश में प्राणी की बुद्धि भ्रान्त हो जाती है और जो उसे न करना चाहिए वही कर बैठता है । जब शेर किसी तेज़ भागने वाले जानवर को पकड़ना चाहता है तो वह उसके समीप जा कर जोर से चिल्लाता है । शेर की अवाज सुनकर वह जानवर इतना भय-भीत हो जाता है कि वह भाग ही नहीं सकता अथवा एक दिशा में न भागकर गोल गोल चक्कर काटने लगता है। प्राणियों में बल रहते हुये भी यदि उनमें निर्भीकता नहीं है तो वे अपने आप की रक्षा नहीं कर सकते । हाथी में सिंह की अपेक्षा बीस गुना अधिक बल है । किन्तु हाथी डरपोक जानवर है, अत-एव जब सिंह उसके समीप आता है तो वह अपनी रक्षा का प्रयास नहीं करता । सिंह से वह लड़ाई न करके उसके काबू में आ जाता है । हाथी बड़े-बड़े झुण्डों में रहते हैं; किन्तु उनके डरपोक

स्वभाव के कारण एक ही सिंह, जिस को मारना चाहता है, मार डालता है।

लड़ाई के समय जिस पक्ष के लोग भयभीत हो जाते हैं वह पक्ष हार जाता है। भय के आ जाने पर उनके लड़ने की शक्ति नष्ट हो जाती है। भय से व्याकुल मनुष्य अधिक संख्या में मारे जाते हैं। समाज के जिन लोगों में निर्भीकता रहती है वे राज्य करते हैं और जो डरपोक स्वभाव के होते हैं वे शासित होते हैं। किसी राष्ट्र में थोड़े से मनुष्य निर्भीक स्वभाव के होते हैं और अधिक डरपोक स्वभाव वाले होते हैं। अतएव पहले वर्ग के लोग थोड़ी संख्या में होते हुये भी दूसरे वर्ग के लोगों पर राज्य करते हैं। इसी तरह दो राष्ट्रों में जो अधिक धैर्यवान होता है, जो आपत्तियों से घबड़ाता नहीं, जो उतावला हो कर कोई काम नहीं करता और जिसके लोग राष्ट्र हित के लिये अपने प्राणों का बलिदान करने को तैयार रहते हैं, वह दूसरे राष्ट्रों पर अपना अधिकार जमा लेता है, चाहे उसकी जन संख्या कम ही क्यों न हो। राष्ट्रों के संघर्ष में वही राष्ट्र विजयी होता है जो अधिक धैर्यवान, निडर और सोच समझ कर काम करने वाला होता है। मुट्ठी भर अंग्रेज आज तक भारत में राज्य करते थे; अंग्रेजों के पहले अल्पसंख्यक मुसलमानों ने बहुसंख्यक हिन्दुओं पर राज्य किया। इस प्रकार की घटनाओं का कारण एक ओर निर्भीकता और दूसरी ओर डरपोक होना ही था।

अब प्रश्न यह आता है कि निर्भीकता कैसे आती है और डरपोक होने का क्या कारण है। आधुनिक मनोविज्ञान का कथन है कि कोई भी व्यक्ति जन्म से डरपोक नहीं होता; डरपोकपना एक प्रकार की आदत है जो अभ्यास के कारण आती है। जिन व्यक्तियों को बचपन में बात बात में

डराया जाता है, वे अन्त को डरपोक बन जाते हैं। हमारे देश में मातायें बालकों को चुप करने के लिये "सियार" "हउआ" आदि का भय मन में बिठा देती हैं। यह भय किसी भी अज्ञात वस्तु के भय में रुपान्तरित होता रहता है। जब कोई व्यक्ति हर हमय डरता रहता है तो उसका आध्यात्मिक बल कम हो जाता है। इस स्थिति में वह कोई कठिनाई का सामना नहीं कर पाता।

आध्यात्मिक मनोविज्ञान की दृष्टि से लोगों के डरपोकपने का कारण दूसरे लोगों के प्रति वैर भाव है। स्वार्थ की वृद्धि और सेवा-भाव के अभाव से यह वैर-भाव बढ़ जाता है। जिस मनुष्य में ईर्ष्या, द्वेष और वैर आदि भावों की वृद्धि होती है उसका मन निर्बल होता है। वह अपने आस पास अनेक कल्पित शत्रु देखता है। वह अपने मित्रों के व्यवहार को शङ्का की दृष्टि से देखने लगता है। वास्तव में ईर्ष्या, द्वेष और घृणा आदि के होने पर मनुष्य का कोई मित्र ही नहीं रह जाता। वह जहाँ दृष्टि डालता है उसे शत्रु ही शत्रु दिखाई देते हैं दूसरों से वैर भाव रखनेवाला व्यक्ति संसार में अपने अनेक वैरी देखने लगता है और वास्तव में भी वह दूसरों को अपने व्यवहार से वैरी बना लेता है। इस तरह स्वार्थी मनुष्य और भी डरपोक हो जाता है। वह सदा अपने कल्पित वैरियों से डरा करता है।

मनुष्य दूसरों से डरता क्यों है? यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाय तो यही उत्तर मिलेगा कि वह उनसे द्वेष करता है, वह उनको हानि पहुँचाना चाहता है। वह मान बैठा है कि दूसरे उनके दुश्मन हैं, अतएव उनका नाश देखने की उसकी इच्छा रहती है। जहाँ स्वार्थ की वृद्धि रहती है वहाँ प्रेम और सेवा

भाव का अभाव रहता है। प्रेम और सेवा भाव के अभाव में द्वेष की वृद्धि होती है। द्वेष की वृद्धि होने पर वैर भाव की वृद्धि होने लगती है। वैर भाव दूसरों पर आरोपित किया जाता है। जो मनुष्य दूसरों की हानि करना चाहता है वह यह कल्पना करता है कि दूसरे उसकी हानि करना चाहते हैं। इस तरह वह अपनी कल्पना से पीड़ित रहने लगता है। उसका स्वभाव डरपोक बन जाता है।

कल्पवृक्ष आश्रम, उज्जैन में लेखककी एक ऐसे विक्षिप्त मनुष्य से भेंट हुई जो अपने कुटुम्ब के लोगों से डरता था। उसे डर था कि वे उसकी आध्यात्मिक शक्ति का हरण कर लेते हैं। यदि कोई बच्चा उसे छू जाय तो वह समझता था कि उसकी सब आध्यात्मिक शक्ति उसने खींच ली। वह अपने आप को एक विद्युत से भरे पदार्थ के समान समझने लगा था। वह सब लोगों से अलग रहना चाहता था। उसे कोई सोते समय छू न ले इससे वह सतर्क रहता था। वह अपनी शक्ति के लूटे जाने की गाथा बड़ी करुण भाषा में रोते हुये कहता था। यह व्यक्ति पहले ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के लिये कुछ योगाभ्यास करता था। इसी अभ्यास के करते समय उसे विक्षिप्तता आ गई।

यहाँ तक हम देखते हैं कि उस व्यक्ति की स्वार्थ बुद्धि ही उसकी दयनीय अवस्था का कारण थी। वह किसी को दुख पहुँचाने के लिये अथवा उस पर प्रभाव जमाने के लिये योग सिद्धि लाभ करना चाहता था। इस कारण उसे दूसरे लोगों से अत्यधिक द्वेष हो गया, जिसके परिणाम स्वरूप वह विक्षिप्त हो गया और अपने आस पास के लोगों से डरने लगा।

निर्भीकता, त्याग, सेवाभाव तथा प्रेम की वृद्धि से प्राप्त की जा सकती है। जिस मनुष्य के पास धन है वह चोर और

डाकुओं से डरा करता है; जो पद-लोलुप है, वह दूसरे पद-लोलुपों से डरा करता है; जिसे राज्य-भोग की इच्छा है वह दूसरे राज्य-भोग के इच्छुक लोगों से डरा करता है और शरीर को अत्यधिक प्रेम करने वाला व्यक्ति मरने से डरता है। जिस व्यक्ति की जिस पदार्थ में लगन रहती है, वह उसको खो जाने से सदा डरता रहता है। जो जितना आत्म-त्याग करता है, वह उतना ही निर्भीक रहता है। जिसे धन-संग्रह की चाह नहीं, उसे चोर-डाकू के भय की परवाह नहीं। मान की परवाह न करने वाला व्यक्ति ऊँचे पद वालों से न द्वेष करता है और न उनसे डरता है। जिसको अपने शरीर का मोह नहीं, वह शक्तिशाली व्यक्तियों से भी नहीं डरता।

धन की तृष्णा से भय पैदा होता है। इसका एक सुन्दर उदाहरण गोरखनाथ और मछिन्दरनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) की कहानी है। मत्स्येन्द्रनाथ को कामक्षा की रानी के प्रेम से छुड़ाने के लिये गोरखनाथ ने अनेक प्रयत्न किये। किसी प्रकार वे सफल हुये। जब मत्स्येन्द्रनाथ वहाँ से चलने लगे तो रानी ने कुछ सोना उनकी झोली में रख दिया। मत्स्येन्द्र नाथ को इसका पता था, किन्तु उन्होंने गोरख नाथ से बताया नहीं। चलते-चलते रात में एक स्थान पर ठहरे। गुरुजी ने पूछा—बेटा, यहाँ कोई भय तो नहीं है! गोरख ने कहा—डर किस बात का? यहाँ कोई डर नहीं, गुरुजी!

उस रात वे वहाँ टिके। किन्तु मत्स्येन्द्र को नींद न आयी, रात भर बेचैन रहे। दूसरे दिन फिर यात्रा प्रारम्भ हुई। रातमें गुरुदेव ने पुनः वही प्रश्न किया और गोरख ने वही उत्तर दिया। किन्तु अब गोरख नाथ गुरुदेव के भय का कारण ढूँढ़ने लगे। उन्होंने देखा कि गुरुजी अपनी झोली अपने सिरहाने रख कर

ही सोते हैं, सम्भव है उसी में डर का कारण हो। जब तीसरे दिन गुरुजी स्नान के लिये कुछ दूरी पर गये, तब गोरख ने उनकी झोली को टटोला। उसमें उन्हें सोना मिला। उस सोने को उन्होंने नदी में फेंक दिया और उसके स्थान पर एक बड़ा सा पत्थर झोली में रख दिया। जब तीसरी रात गुरु जी ने वही भय का प्रश्न किया—तब गोरख ने कहा—महाराज, अब डर कैसा ? डर तो अब दस कोस पीछे छूट गया।

इस उत्तर को सुन मत्स्येन्द्रनाथ दंग रह गये। वे समझ गये कि सम्भव है कि मेरा सोना जिसे मैंने गोरखनाथ से छिपा रहा था, उसने नदी में फेंक दिया हो। झोली में पत्थर देख वे रोने—पीटने लगे। गोरखनाथ ने समझाया—यह क्या, सामने देखिये। मत्स्येन्द्रनाथ ने सामने देखा—सोने का पहाड़ चमचमा रहा था। उस क्षण उनकी लोभ-बुद्धि का नाश हो गया और तज्जन्य भय भाग गया। हम देखते हैं कि तृष्णा ही डर का कारण होती है।

जिसने शरीर का मोह छोड़ दिया है, वह संसार में अभय है। उसे किसी का भय नहीं। जिस व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से किसी प्रकार के लाभ की आशा नहीं रहती वह भी उससे निर्भीक रहता है।

२८

घृणा

घृणा मानसिक विकर्षण का भाव है। समान गुणों के व्यक्तियों के प्रति मनुष्य का प्रेम अर्थात् आकर्षण होता है और विरोधी गुण वालों के प्रति विकर्षण का भाव होता है। पर यहाँ व्यक्त और अव्यक्त मानसिक क्रियाओं के स्वरूप को जानना आवश्यक है। घृणा उदासीनता का भाव नहीं है। घृणा में बाह्य विकर्षण रहता है और आन्तरिक आकर्षण रहता है। दो घृणा करनेवाले व्यक्तियों में उसी प्रकार आन्तरिक एकता रहती है जिस प्रकार दो प्रेम करने वाले व्यक्तियों में रहती है। घृणा प्रेम का ही विकृत रूप है। विक्षिप्तता के प्रसिद्ध विशेषज्ञ बरनार्ड हार्ट महाशय का कथन है कि हम दूसरे लोगों के उन्हीं अवगुणों से परेशान होते हैं जो हमारे स्वभाव में ही वर्तमान हैं। जब हम अपने अवगुणों को स्वीकार नहीं करना चाहते तो वे हमारे दृष्टि से ओझल रहते हैं। वे हमारे अचेतन मन में रह कर विशेष प्रकार की मनोवृत्ति उत्पन्न करते हैं। हम उन्हें फिर अपने आप में न देखकर अपने से बाहर किसी दूसरे व्यक्ति में देखते हैं। यह अपने अवगुणों का आरोपण है। आरोपण अचेतन मन की क्रिया है और यह हमारे अनजाने होती है।

मान लीजिये, कोई व्यक्ति बड़ा ही शिष्टाचारी अथवा संयमी है। यदि यह व्यक्ति अशिष्ट और विलासी व्यक्ति से घृणा

करता है अर्थात् सदा उनकी निंदा किया करता है, तो हमें इसके आन्तरिक मन में अशिष्टता और विलासिता की उपस्थिति का अनुमान करना चाहिये। जो व्यक्ति अव्यवस्थित मन के लोगों से परेशान रहते हैं वे स्वयं ही अव्यवस्थित मन के होते हैं। मनुष्य के प्रकाशित गुण एक प्रकार के होते हैं और अ-प्रकाशित दूसरे प्रकार के। जब मनुष्य की चेतना में एक प्रकार के गुणों की अत्याधिक वृद्धि होती है तो उसके अचेतन मन में उनके विरोधी गुणों की वृद्धि होती है। यह क्रिया विकेन्द्री करण के क्रिया कहलाती है। घृणा की प्रतिक्रिया दबी हुई अस्वीकृत भावना का परिणाम है। घृणा से विरोधी गुणों का विकेन्द्रीकरण और भी अधिक हो जाता है; अर्थात् मनुष्य अपने आप में उन गुणों का सम्पूर्ण अभाव पाता है जिन्हें वह घृणा करता है और उन गुणों की वृद्धि पाता है जिन्हें वह भला समझता है। वह अपने आप में घृणित भावों के प्रतिकूल भावों की अधिक से अधिक वृद्धि करने की चेष्टा करता है। वह अब एक प्रकार की होड़ में पड़ जाता है। वह जितना ही विरोधी गुणों का प्रकाशन करता है उसे उतना ही संतोष होता है।

मान लीजिये, हम किसी कृपण मनुष्य से घृणा करते हैं तो उसे शर्म में डालने के लिये हम इतनी उदारता दिखाते हैं कि जिससे संसार हमारी उदारता से दंग रह जाय। इस प्रकार हम अपनी उदारता को प्रकाशित कर के पूरी तरह से खर्च कर डालते हैं। जब हमारी उदारता का भण्डार इस प्रकार खर्च हो जाता है तो हम उदारता से ऊब जाते हैं। फिर हम देखने लगते हैं कि उदारता से हमारा तथा दूसरों का लाभ न हो कर हानि ही हुई है। अति उदार मनुष्य एक समय अपने

आप को चापलूसों और ठगों से घिरा हुआ पाता है। इनसे परेशान हो कर वह फिर कठोर मन का हो जाता है। इस प्रकार का परिवर्तन उसकी उदारता के भण्डार के समाप्त होने का सूचक है। जब मनुष्य अपने किसी गुण का अभिमान करने लगे, तो हमें समझना चाहिये कि उसके उक्त गुण का अब दिवाला निकलने वाला है।

जब किसी गुण के अत्यधिक प्रकाशन से उस गुण का दिवाला निकल जाता है तो अचेतन मन में वर्तमान विरोधी गुण मनुष्य की चेतना के ऊपर अधिकार कर लेता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य के आचरण में उसी गुण का बाहुल्य हो जाता है जिसे पहले वह घृणा की दृष्टि से देखता था। मान लीजिये, कोई व्यक्ति घूसखोरी को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखता है। वह घूस खोर की सदा निंदा किया करता है और उन्हें समाज में अपमानित करने के लिये अनेक प्रकार की योजनाएँ बनाता है। वह अपने आप बड़ी सचाई का प्रदर्शन करता है। इसके परिणाम स्वरूप लोगों में उसके प्रति विश्वास बढ़ जाता है। वह अब अनेक प्रकार के अधिकार प्राप्त कर लेता है। अब धीरे धीरे उसकी बुद्धि में परिवर्तन हो जाता है। अब वह अपने समक्ष किसी व्यक्ति को विरोध करने के लिये नहीं पाता। ऐसी स्थिति में उसकी घूस-विरोधी मनोवृत्ति की एकाग्रता नहीं होती। वह अब अपने आप को घूस खोरी से अलग रखने का कोई हेतु नहीं पाता। धीरे धीरे फिर उसमें ही उस आदत का उदय हो जाता है जिसको पहले वह घृणा की दृष्टि से देखता था

जो बात घूसखोरी के विषय में सत्य है वही सत्य, अहिंसा, सदाचार, ब्रह्मचर्य, सादगी आदि गुणों के विषय में भी

सत्य है। जिन अवगुणों को हम घृणा की दृष्टि से देखते हैं वे एक दिन हमारे ही आचारण में प्रकाशित हो जाते हैं। पाल रिचार्ड महाशय ने अपनी एक पुस्तक में बताया है कि घृणा किये जाने वाले भाव हमारे स्वभाव में अज्ञात रूप से आ जाते हैं। जो व्यक्ति जिस व्यक्ति से घृणा करता है वह एक दिन उसकी ही प्रतिमूर्ति बन जाता है। यदि कोई राजनैतिक दल दूसरे दल को घृणा की दृष्टि से देखता है तो वह एक दिन उसी दल के सब गुणों को ले लेता है।

ऐसा मनो-वैज्ञानिक परिवर्तन क्यों होता है? इस प्रश्न पर बहुत कम विचार किया गया है। आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों से इस प्रश्न का उत्तर मिलता है। यह परिवर्तन स्वकीय प्राकृतिक कार्य है। किन्हीं गुणों को घृणा करने वाला व्यक्ति पीछे उन्हें इसलिये चरितार्थ करने लगता है कि वे गुण उसके अव्यक्त मन में पहले से ही थे। घृणा से उन गुणों का दमन मात्र होता है। घृणा से विरोधी गुण खर्च हो जाते हैं और जिन गुणों से हम घृणा करते हैं वे ही हमारे पास रह जाते हैं। कहा जाता है कि साधु के निंदक उनके दुर्गुणों को ले लेते हैं और उनके प्रशंसक उनके सद्गुणों को ले लेते हैं। यह साधुओं के विषय में ही नहीं वरन् सभी लोगों के विषय में होता है। निंदा करने से हम में अवगुणों की वृद्धि होती है और प्रशंसा करने से गुणों की। दूसरों की निंदा के द्वारा हम अपने सद्गुणों का ढिंढोरा पीटते हैं, हम अपने आप को दूसरों से भला सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। हमारी इस प्रकार की क्रिया से हमारे सद्गुण प्रकाशित होकर खर्च हो जाते हैं और हमारे दुर्गुण हमारे पास रह जाते हैं। वे हमारे अचेतन मन से निकल कर चेतना की ओर चले आते हैं।

विशेष व्यक्ति का मन सामान्य व्यक्ति से भिन्न होता है। सामान्य व्यक्ति के चेतन और अचेतन मन में जितनी समता होती है उतनी समता विशेष व्यक्ति के मन में नहीं रहती। सामान्य व्यक्ति के आचरण में अत्यधिक शिष्टता अथवा इन्द्रिय निग्रह नहीं पाया जाता। उसमें सदाचार की भी कमी पाई जाती है। विशेष व्यक्ति का मन इसके विपरीत होता है। उसके आचरण में शिष्टता, सदाचार और इन्द्रिय निग्रह पाया जाता है। पर इन गुणों की जब एक ओर वृद्धि होती है तो विरोधी गुणों की वृद्धि दूसरी ओर हो जाती है, अर्थात् मनुष्य के अचेतन मन में उन्हीं गुणों की वृद्धि हो जाती है जिनका दमन उसके चेतन मन में पाया जाता है। प्रकाशन से किसी भी प्रकार की शक्ति खर्च होती है। अतएव जब सामान्य मनुष्य आचरण करता है तो उसके सद्गुण, और दुर्गुण दोनों ही खर्च होते हैं। इसके विपरीत तपस्वी अथवा प्रतिभावन व्यक्ति के आचरण का परिणाम होता है। उनके आचारण से उनके सद्गुण प्रकाशित हो कर शान्त हो जाते हैं और फिर दुर्गुणों का प्रवाह चेतना की ओर हो जाता है। इसके कारण कितने ही मनुष्यों का आचरण पहले से एकाएक विरुद्ध हो जाता है। कभी कभी घोर तपस्वी दुराचारी और तपस्वी दुराचारी हो जाता है।

—— ——

२६

निन्दा

दूसरों की निन्दा दो कारणों से की जाती है—एक किसी स्वार्थ के साधन के हेतु और दूसरे अभ्यास के कारण। संसार उतनी दूसरों का भला चाहने वाले व्यक्तियों की उतनी प्रशंसा नहीं करता जितना उनको गिरानेवाले लोगों की प्रशंसा करता है। यदि ऐसा न होता तो संसार सुखी क्यों होता? हम एक दूसरे का अकल्याण चाहने के कारण ही अपने आप को और दूसरों को दुःखी बनाते हैं। जब कोई व्यक्ति हमारे स्वार्थों की सिद्धि में बाधक बनता है तो उसकी निन्दा करना स्वाभाविक है। जैसी उन्होंने हमको क्षति पहुँचाई उसी प्रकार हम भी उनको क्षति पहुँचाने की चेष्टा करते हैं। कितने मनुष्यों की सफलता उनकी प्रतिष्ठा पर ही निर्भर रहती है। प्रतिष्ठा खो जाने पर वे अपने किसी स्वार्थ में सफल नहीं हो सकते। अतएव ऐसे व्यक्तियों की निन्दा बदला लेने की दृष्टि से अथवा आत्म-रक्षा की दृष्टि से की जाती है।

कभी-कभी अभ्यास वश भी मनुष्य अनजाने दूसरों की निन्दा करते हैं। इस प्रकार की निन्दा अपने आपको बड़ी हानि पहुँचाती है। यह एक प्रकार की मानसिक बीमारी है। इसका कारण आत्महीनता की मानसिक ग्रन्थि है। जिस मनुष्य के अचेतन मन में किसी प्रकार यह भाव स्थान पा लेता है कि वह दूसरों से निकृष्ट समझा जा रहा है, वह अपने प्रत्येक कार्य

में अपने आप को दूसरों से योग्य सिद्ध करने की चेष्टा करता रहता है। उसकी बुद्धि में कर्तव्य और अकर्तव्य की विचार-शक्ति नहीं रहती। वह कभी कभी अपने मित्रों की भी अन-जाने निन्दा कर बैठता है। इस प्रकार वह भारी संकट में पड़ जाता है। उसे कोई व्यक्ति फिर हृदय से नहीं चाहता। संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहा जो निर्दोष हा तथा जिसके चरित्र का छिद्रान्वेषण कोई न कोई न करता हो। जब हम समाज के लोगों से मिलते हैं तो देखते हैं कि जिस व्यक्ति को हम दोष रहित समझते थे, वह भी दोष युक्त है। अब यदि हममें आत्म-हीनता की मानसिक ग्रन्थि है, तो हम अनायास उस व्यक्ति के निन्दकों का साथ देने लगते हैं। कभी कभी निन्दा करने वाले व्यक्ति हमारी बात चीत को निन्दा किये गये व्यक्ति तक पहुँचा देते हैं। ऐसी अवस्था में हम बड़े बड़े संकटों में पड़ जाते हैं।

इस प्रकार के संकट से बचने के लिए व्यवहार-कुशल पोलेनियस ने अपने पुत्र लियारटीस को विदेश जाते समय यह सलाह दी थी, "तुम सबको अपने कान देना पर जवान नहीं देना"। अंग्रेज महाकवि शेक्सपियर के हेमलेट नामक नाटक में कहे हुए उक्त वाक्य की मौलिकता प्रत्येक व्यक्ति का जीवन प्रमाणित करता है। पर यह एक व्यवहार कुशल व्यक्ति का ही उपदेश है। यह आध्यात्मिक उपदेश नहीं।

पर निन्दा को हमें आध्यात्मिक बुराई समझनी चाहिये। यह चेतन सत्ता के अस्तित्व में अविश्वास का प्रतीक है। यदि जो बात हम दूसरोंके पीछे उनके विषय में कहते हैं, वहीं हम उनके समक्ष नहीं कह सकते तो हम एक कायर पुरुष का काम करते हैं। यही नहीं, हम अपने-आपको धोखा भी देते हैं। हमारे सब कृत्यों को परमात्मा देख रहा है। यदि किसी कार्य के करने में

हमें यह डर है कि वह दूसरों द्वारा जान लिया जायगा तो उसे करना ही नहीं चाहिये। इस प्रकार हम आत्मा की सर्व व्यापकता का भाव अपने आप में दृढ़ करते हैं। हम अपने कार्य्यों को जितना ही इस ज्ञान से विहीन होकर करते हैं उतना ही अपने आप से दूर चले जाते हैं। बेकन महाशय का कथन है, "जो व्यक्ति झूठ बोलता है वह मनुष्यों के सामने अपनी कायरता और ईश्वर के समक्ष बहादुरी प्रदर्शित करता है"। निन्दा की बुद्धि भी ऐसे ही अज्ञान से ढकी रहती है। दूसरों के विषय में बात-चीत करते समय हमें इस बात को सोचना चाहिये कि क्या यह बात हम उस व्यक्ति के समक्ष भी कह सकते हैं अथवा नहीं। यदि हममें उसके समक्ष भी उसे कहने का साहस रखते हैं तो उसके बिषय में उस प्रकार की बात करने में कोई हानि नहीं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि हम दूसरों का निन्दा करने की आदत से विलकुल मुक्त कैसे हों? इसका एक मात्र उपाय आत्म-ज्ञान है। पहले हमें यह जानना चाहिये कि हममें ऐसी आदत है; दूसरे उस आदत का कारण जानना चाहिये। यदि हम अपनी वास्तविक कीमत बढ़ाने में लग जायँ, तो निन्दा करने की आदत अपने आप छूट जाय। जिस व्यक्ति का जीवन परोपकार में लगा है, उसके मन से सब प्रकार कीग्रन्थियों का निवारण अपने आप ही हो जाता है। हमें अपने विचार शुद्ध बनाने चाहिये, फिर हमारा आचरण अपने आप ही शुद्ध हो जायगा। यह सम्भव नहीं कि हमारे विचार तो दूषित रहें पर आचरण तथा बात-चीत अच्छे हों। सदा दूसरों के विषय में अच्छी भावना ही मन में लाना चाहिये। यदि सबके

सम्बन्ध में शुभ चिन्तन किया जायगा, तो अपने आप ही हम जाने अनजाने ऐसी बात न करेंगे जो दूसरों को अप्रिय हो।

जब हमें यह ज्ञात हो जाय कि हम किसी की निन्दा कर रहे हैं, तो हमें अपने अन्दर विपरीत भावना की उत्तेजना करनी चाहिये। हमें चाहिये कि जहाँ भी अवसर मिले हमे अपने सम्पर्क में आने वाले लोगों की दूसरों के समक्ष स्तुति करें। इस प्रकार यदि हमने किसी का अकल्याण भी किया है या अकल्याण का चिन्तन भी किया है तो तज्जनित दूषित संस्कार का विनाश हो जाता है।

३०

भावों का आरोपण

मनुष्य के जैसे विचार होते हैं उसके अनुसार ही उसके भाव हो जाते हैं और उसका चरित्र बन जाता है। जिस व्यक्ति के विचार भले हैं उसे सुख होता है, जिसके विचार बुरे हैं वह सदा दुःख की मानसिक अवस्था में रहता है। दूसरों के अपने प्रति अन्याय के विषय में सोचते रहना दुःख के संसार का निर्माण करना है, दूसरों के प्रति उदारता और क्षमा का भाव रखना, उन्हें प्रेम के विचार भेजना, आनन्द के संसार का निर्माण करना है। अपना स्वर्ग और नर्क अपने ही हाथ में हैं। इसी लोक में हमें ये मिल जाते हैं। सुन्दर विचारों से हम अपना जीवन स्वर्गीय बना लेते हैं और कलुषित विचारों से हम उसे नरकीय बना लेते हैं। जैसे मनुष्य के विचार होते हैं उसका संसार भी वैसा ही निर्मित हो जाता है।

उपर्युक्त आध्यात्मिक सत्य को, जिसे धम्मपद, बाइबिल गीता और जिन्द अविस्ता ने कहा है, आधुनिक मनोविज्ञान प्रमाणित कर रहा है। मनुष्य के विचार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर आरोपित होते रहते हैं। बार बार किसी प्रकार के विचारों को मन में लाने से वे राग द्वेषात्मक भावों से भर जाते हैं। एक भी व्यक्ति के प्रति द्वेषात्मक विचार मन में लाने से मन लघुषित हो जाता है। फिर उस व्यक्ति के अभाव में वे ही विचार किसी दूसरे व्यक्ति पर आरोपित हो जाते हैं।

मनुष्य के शत्रु और मित्र सभी जगह हैं। अपने विचारों के अनुसार वह उनकी खोज कर लेता है। जिस व्यक्ति में मैत्री भावना के विचार सबल हैं वह मित्रों को अपने चारों ओर देखता है और जिसमें शत्रु-भावना के विचार प्रबल हैं वह अपने चारों ओर शत्रु ही शत्रु देखता है।

जब मनुष्य के विचार विकृत हो जाते हैं तो उसके मित्र उससे उदासीन हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति में आत्म-निरीक्षण का सामर्थ्य नहीं रहता। अतएव वह इनकी उदासीनता का कारण उनमें स्वार्थपरता की वृद्धि ही देखता है। जैसे भावों की किसी व्यक्ति के मन में वृद्धि होती हैं वह वैसे ही भावों का दूसरे व्यक्ति के मन में चित्रण करने लगता है। इस प्रकार सब के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास करने वाला व्यक्ति किसी भी नये व्यक्ति के मिलने पर अपनी कल्पना में उसे अपना मित्र के रूप में चित्रित करता है। इसके परिणाम स्वरूप वह मित्र के रूप में अपना आचरण भी बना लेता है। अर्थात् वह थोड़े ही काल में उस व्यक्ति के प्रति स्वयं मैत्री भाव प्रकाशित करने लगता है। इसके प्रतिकूल जिस व्यक्ति के मनमें कलुषित विचार हैं, वह नये मिलने वाले व्यक्ति के मन में भी कलुषित भावों की कल्पना करता है। इससे उसका व्यवहार संदेह पूर्ण हो जाता है। थोड़े ही समय में वह इसी विचार का उदय उस व्यक्ति में कर देता है और इस प्रकार उसे वास्तव में अपना शत्रु बना लेता है।

विचार एक व्यक्ति से दूसरे तक प्रकाशित और अप्रकाशित, रूप से जाते हैं। पहले तो कलुषित विचार वाला व्यक्ति भले मनुष्य को बुरा ही देखता है पर उसके बार बार इस प्रकार अपने मन में चित्रण करने से भले व्यक्ति के

मन में भी उस व्यक्ति के प्रति दुर्भावनायें उठने लगती हैं। वह इस प्रकार की दुर्भावनाओं का कारण नहीं जानता। पर वे अनायास मन में आ जाती है। इन भावनाओं के कारण यह व्यक्ति दूसरों के प्रति भला हो कर भी कलुषित विचार वाले व्यक्ति के प्रति अनुदारता अथवा कठोरता का व्यवहार करता है। उसके आचरण में इस तरह वास्तविक परिवर्तन हो जाता है। अब तो कलुषित भावना वाले व्यक्ति को प्रमाण मिल जाता है कि जिसे संसार के लोग भला समझते हैं वह वास्तव में बहुत ही बुरा व्यक्ति है।

किसी एक भी व्यक्ति के प्रति अमैत्री भावना का अभ्यास मन को बिगाड़ देता है। इसके कारण ऐसे व्यक्ति को अनेक शत्रु मिलते हैं। इन शत्रुओं का वह वास्तव में स्वयं निर्माण करता है। अतएव मैत्री भावना का अभ्यास करते समय हमें अपने शत्रु के प्रति ही अधिक अभ्यास करना चाहिये। बाहर के शत्रु और मित्र हमारी कल्पना मात्र हैं। हमारे वास्तविक शत्रु और मित्र हमारे विचार ही हैं। हमारे विचार बाहरी व्यक्तियों में मूर्तिमान हो जाते हैं।

व्यवहारिक जगत में देखा जाता है कि जैसा विचार हम दूसरे लोगोंके प्रति रखते हैं दूसरे लोग भी उसी प्रकार का विचार हमारे प्रति रखने लगते हैं। हमारा कोई भी सुकृत व्यर्थ नहीं जाता। सुकृत के फलित होने में कुछ देर लगती है, दुष्कृत जल्दी से फलित हो जाता है। यदि किसी भी व्यक्ति के प्रति हमने भलाई की तो यदि वह स्वयं हमारी भलाई का बदला नहीं चुका पाता तो कोई दूसरा व्यक्ति उसका बदला चुका देता है। भलाई करने का सबसे बड़ा लाभ अपने आप में भलाई करने की आदत का डालना है। मनुष्य की आदतें उस के

स्वभाव का अँग बन जाती है और अपने स्वभाव के अनुसार ही मनुष्य को भले और बुरे फल मिला करते हैं।

यदि हम किसी व्यक्ति के मुँह से सभी लोगों की निन्दा सुने तो हमें समझना चाहिए कि वही व्यक्ति निन्दनीय है। जो व्यक्ति दूसरे लोगों की भलाई की चर्चा ही करता है वह स्वयं भला है। भले व्यक्ति के मन में दूसरों की भलाई के विचार आते हैं। वह सदा यह सोचता है कि उसे बहुत से लोगों का ऋण चुकाना है। स्वार्थी मनुष्य सोचा करता है कि उसने दूसरे लोगों का कितना उपकार किया और वे कितने अकृतज्ञ हैं, इसके प्रतिकूल उदार मनुष्य अपने को ऋण चुकाने में असमर्थ पाता है। महाराज अशोक कभी भी लोक सेवा से संतुष्ट नहीं होते थे। वे जितनी ही दूसरों की सेवा करते थे उन्हें उतना ही अपने कामों से अधिक असन्तोष होता था। वे सोचते थे कि जितना काम मुझे लोक सेवा के लिए करना चाहिये, उतना मैं नहीं कर रहा हूँ। यह उदार मनुष्य की मनोवृत्ति का स्वरूप है। इसके प्रतिकूल अनुदार व्यक्ति सदा दूसरों की अकृतज्ञता की शिकायत किया करता है। उदार मनुष्य को भले ही लोग मिलते हैं और अनुदार को सदा बुरे मिलते हैं। यह भावों के आरोपण का परिणाम मात्र है।

३१

भूत भावना

जहाँ भी मनुष्य रहता है भूत भावना पाई जाती है। जिस प्रकार जीवित व्यक्तियों का जगत है, उसी तरह, मनुष्य भूतों के जगत की कल्पना करता है। संस्कृत शब्द "भूत" का अर्थ "जो बीत गया" है। यह शब्द वास्तविकता का द्योतक नहीं, उसका विरोधी है। भूत वर्त्तमान नहीं अतएव कोई कहे कि भूत वर्त्तमान है तो वह स्वयं विरोधी बात कहता है। भूत का अस्तित्व तो हो ही नहीं सकता; संस्कृत शब्द "भूत" स्वयं ही मनुष्यों की साधारण कल्पना को निराधार प्रमाणित करता है। पर संसार की दूसरी भाषाओं में भूत के लिये ऐसे शब्द नहीं हैं जो उसकी अवास्तविकता सिद्ध करें। जैसे जड़ पदार्थों के नाम हैं वैसे ही शरीरहीन पदार्थों के नाम बनाये हुये हैं, जो उनके अस्तित्व के द्योतक हैं।

भूत भावना का आधार क्या है इस पर विचार करना प्रत्येक समझदार व्यक्ति का कर्त्तव्य है। यह भावना इतनी व्यापक है कि इसके बराबर व्यापक दूसरी कोई भी भावना संभवतः नहीं है। मूर्ख और पढ़े लिखे विद्वान् सभी के मन में कभी कभी भूत-भावना आती है। भूत चाहे किसी ने देखें हों अथवा नहीं उनके अस्तित्व में अविश्वास करने वाले थोड़े ही लोग मिलते हैं। यह भावना मनुष्यों के अनेक कार्यों का कारण बन जाती है। इससे प्रेरित हो कर लोग कितने ही काम करने

से रुक जाते हैं। कितने ही अच्छे मकान इसलिये खाली पड़े रहते हैं कि लोगों में विचार फैल गया है कि उसमें भूत रहते हैं। कोई कोई लोग अपना घर छोड़ भूत के डर से सैकड़ों मील दूर रहते हैं। एक राजा भूत के डर से अपना राज्य ही छोड़ कर चला गया था। बहुत से पंडा, पुजारी, ओझा, फकीर, मौलवी, मुल्ला लोग भूतों की अनेक तरह की करामातों का प्रचार करके अपनी रोजी चलाते हैं। जिस प्रकार देवी देवता अनेक लोगों को पालते हैं, उसी प्रकार भूत भी अनेक लोगों को पालते हैं। फिर भी मनुष्य देवी देवताओं से उतना नहीं डरते जितना कि भूतोंसे डरते हैं। अतएव यदि हम मनुष्यों को भूत भावना का रहस्य समझा दें तो उनका भारी कल्याण करेंगे। देखा गया है कि जो मनुष्य स्वभावतः जितना निडर और स्वावलम्बी होता है उसके मन में भूत भावना की उतनी ही कमी रहती है। भूतों ने किसी का कल्याण किया हो यह तो देखा नहीं गया, भूतों से अकल्याण ही होता है। भूत के अस्तित्व में विश्वास भय के साथ साथ ही होता है। अब प्रश्न यह है कि भय भूत भावना का कारण है अथवा भूत भावना भय का।

मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर हम भय को ही "भूत भावना" का कारण पाते हैं। जब मनुष्य किसी प्रकार के कुचिंतन से अपने मन को निर्बल बना लेता है तो उसके मन में अनेक प्रकार के भय उत्पन्न होने लगते हैं। कुछ आधिभौतिक और कुछ आधिदैविक होते हैं। आध्यात्मिक निर्बलता ही सब दुखों का कारण है—आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख आध्यात्मिक दुःखों के रूपान्तरण मात्र हैं। कुचिन्तन (अर्थात् आत्म विस्मृति) का परिणाम दुःख अवश्य

होता है। यह दुःख अनेक रूप धारण करता है। [illegible] दुःख है। कमजोर मन मानसिक दुःखों की उत्पत्ति अपने आप करता है अर्थात् वह भय का निर्माण करता है। मनुष्य जितना वास्तविक दुःखों से पीड़ित नहीं रहता उतना कल्पित दुःखों से पीड़ित रहता है। कल्पित दुखों में भूत के भय का दुःख सबसे भारी है।

अपने कुकृत्यों के कारण सब दुःख होते हैं। उन दुःखों के लिये कुछ न कुछ कारण वास्तविक जगत अथवा कल्पित जगत में मिल जाते हैं। जो दुःख भय के रूप में आते हैं उनसे मनुष्य अपने प्रयत्न से भी छुटकारा नहीं पाता। प्रत्येक भय एक प्रकार की झक है। यह पागलपन की अवस्था है। जिस मनुष्य का मन जितना कमजोर होता है उसके भय उतने ही निराधार और प्रबल होते हैं। जब ऐसे मनुष्य को किसी बाहरी परिस्थिति का भय नहीं रहता और न बाहरी परिस्थिति कोई त्रास देती है तो वह एक ऐसी नई सृष्टि की कल्पना कर लेता है जो उसे नरक की घोर यंत्रणा दे। कविवर मिलटन का यह कथन पूर्ण सत्य है कि मन ही संसार का निर्माण करता है— वही स्वर्ग को नर्क बना देता है और नर्क को स्वर्ग। जिसे दुःख होना ही है उसे दुःख का कुछ कारण मिल जाता है; यदि कारण नहीं है, तो उसकी कल्पना कारण की सृष्टि कर लेती है। भूतों की सृष्टि इसी प्रकार कल्पना की सृष्टि है।

भूत भावना द्वेष भावना की सहचरी है। लोभ की वृद्धि के साथ साथ मनुष्य में द्वेष बुद्धि बढ़ जाती। वह दूसरों के अहित का चिन्तन करने लगता है। ईर्ष्या के कारण वह दूसरों की वृद्धि नहीं देख सकता है। लोभी मनुष्य का व्यवहार कपट व्यवहार होता है। ऊपर से वह बड़ी उदारता और सद्भाव दिखाता

है और भीतर से ठीक इसके विपरित रहता है। वह छुपे-छुपे दूसरों का अनर्थ करता रहता है। उसके अदृष्य मन में इस प्रकार के अनर्थ का भय भी उतनी ही मात्रा में प्रबल हो जाता है जितना कि उसके ज्ञात मन में दूसरों के अनर्थ की भावना प्रबल होती है। यह अज्ञात मन की भावना भूत का रूप धारण कर लेती है। अर्थात उसका अज्ञात भय "भूत" पर आरोपित हो जाता है।

ऊपर यह कहा गया है कि निर्बल मन ही भूत भावना से पीड़ित होता है, अर्थात निर्बल मन के व्यक्ति को ही भूत दिखलाई देते हैं। इस कथन का विरोध बहुत से लोग यह प्रमाण देकर करेंगे कि बड़े बड़े वीर पुरुषों को भी भूत दिखलाई देते हैं। यहाँ हमें मन के वास्तविक रूप को ध्यान में रखना आवश्यक है। कितने ही लोग ज्ञात मन में वीर और अज्ञात मन में डरपोक होते हैं। लार्ड रावर्ट जो बड़े भारी योद्धा थे बिल्ली का सामना नहीं कर सकते थे। जिस मनुष्य को द्वेष भावना है वह निर्भीक कदापि नहीं रह सकता। कितने ही मनुष्यों की वीरता उनके डरपोक स्वभाव को छुपाने की प्रतिक्रिया मात्र होता है। लोभी और द्वेषी मनुष्य का निडर होना असम्भव है

देखा गया है कि भूत जितना भले लोगों को पीड़ा देते हैं, उतनी दुष्ट लोगों को पीड़ा नहीं देते। इससे उपरोक्त कथन का प्रतिवाद होता है। पर बात ऐसी नहीं है। जो लोग दुराचारी नाम से प्रसिद्ध हैं वे समाज से अनेक प्रकार का दण्ड पाते रहते हैं। उनका सामाजिक तिरस्कार तो होता रहता है। अतएव उन्हें अन्तरात्मा से कोई वेदना नहीं होती। उनके मन में अनेक अज्ञात भय नहीं रहते। पर जो लोग दुराचारी होते हुए

जगत में सज्जन के नाम से प्रसिद्ध हैं, उन्हें अपने दुराचार के प्रतिकार का अज्ञात भय बना रहता है। हजरत ईसा का कथन है कि कुकर्म की अपेक्षा कुचिंतन अधिक बुरा है—पूर्ण सत्य है, कुकर्म का बुरा परिणाम तुरन्त प्रत्यक्ष होता है अतएव कुकर्मी में सुधार शीघ्रता से होता है। पर कुचिंतन का परिणाम इतनी शीघ्रता से प्रत्यक्ष नहीं होता। अतएव कुचिंतन करनेवाले में सुधार होने में देरी होती है। उसे अनेकों मानसिक यंत्रणायें होती हैं। इसलिए ही बाहरी व्यवहार में भले दीखने वाले लोगों में ही भूतों से पीड़ित लोग पाये जाते हैं। यदि भूत से पीड़ित लोगों का मनोविश्लेषण किया जाय तो उस के भीतर बड़ी बड़ी भयानक समाज की अकल्याण कारक भावनायें दिखलायी देगीं। यही भावनायें भूत के रूप में प्रकट हो कर उस व्यक्ति को त्रास देती हैं।

मनुष्य की कल्पना में अद्भुत शक्ति है। यदि किसी बात को मनुष्य अपनी कल्पना में बार बार लाता है तो वह बाह्य जगत में प्रत्यक्ष दिखाई देने लगती है। इस विषय में लेखक के एक बौद्ध-मित्र ने अपना अनोखा अनुभव कहा। एक बार वे अपनी यौगिक क्रिया में आँख मूँद कर मृत शरीर का चिंतन कर रहे थे। यह चिंतन मन को वश में लाने में सहायक होता है। चिंतन करते करते उन्हें एक सड़े मुरद्दे की बदबू आने लगी। वह बदबू बढ़ती ही गई यहाँ तक कि उन से वह सही न गई। उन्होंने अपनी आँखें खोल लीं देखा एक मृत शरीर उन के सामने पड़ा हुआ है और उसी से बदबू आ रही है। वे उसे थोड़ी देर देखते रहे कुछ ही देर में वह शरीर हिलने लगा। और उस पर ध्यान लगाने पर वह धीरे धीरे उठ के खड़ा हो गया। यह दृश्य देखकर मेरे मित्र विस्मित हुये। पर उन के

हृदय में उस से कोई भय उत्पन्न नहीं हुआ। उन्होंने उस दृष्य पदार्थ के प्रति मैत्री भावना का भाव फैलाया। धीरे धीरे वह शरीर फिर अपने स्थान पर लेट गया और अदृश्य हो गया।

यह अनुभव एक ऐसे व्यक्ति का कहा है जिसकी बात में अविश्वास करना लेखक के लिये असम्भव है। पर इस से दो ही बातें सिद्ध होती हैं—कल्पना शक्ति का सामर्थ्य और मैत्री भावना की भय-निवारण में उपयोगिता। बच्चों को प्रौढ़ लोगों की अपेक्षा अधिक भूत दिखाई देते हैं; इसी तरह स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा अधिक भूत दिखाई देते हैं। पर मनोविज्ञान वेत्ता यह भली प्रकार जानते हैं कि बच्चों की कल्पना शक्ति प्रौढ़ों की अपेक्षा अधिक प्रबल होती है। वैसे ही पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की कल्पना शक्ति अधिक प्रबल होती है। बच्चों और स्त्रियों की कल्पना प्रौढ़ों और पुरुषों की अपेक्षा अधिक सजीव होती है। ओझा लोग भी बच्चों और स्त्रियों की झाड़फूक अधिक करते हैं। बच्चों और स्त्रियों की इच्छा शक्ति जितनी निर्बल होती है उतनी चिन्तनशील पुरुषों की नहा होती। जिस मनुष्य की जितनी दृढ़ इच्छा शक्ति है उस से भूत प्रेत उतने ही डरते हैं और हिप्नोटाइजर लोग उन पर उतना ही कम अपना असर जमा सकते हैं—

———

३२

कल्पना और आचरण

कल्पना का आचरण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार की कल्पना मनुष्य अपने मन में बार बार लाता है उसका आचरण उसी प्रकार का हो जाता है। कल्पना बौद्धिक विचार से भिन्न वस्तु है। बौद्धिक विचार बाह्य जगत और वास्तविकता से सम्बन्ध रखता है, कल्पना अन्तर जगत से सम्बन्ध रखती है। उसका उद्गम स्थान मनुष्य का भीतरी मन है। जिस प्रकार बुद्धि के द्वारा मनुष्य वास्तविक जगत के उपयुक्त अपना आचरण बनाने की चेष्टा करता है, इसी प्रकार कल्पना के द्वारा मनुष्य अपने आन्तरिक जीवन से समता स्थापित करता है। कल्पना का प्रधान कार्य अचेतन मन की भावनाओं को चेतना की सतह पर लाना है। पर यदि चेतना की सतह पर आई हुई कल्पनाओं का बुद्धि के द्वारा नियंत्रण न किया जाय तो वे आचरण में अवश्य प्रकाशित हो जावें।

अपनी कल्पना का सुधार करना अपने स्वभाव का सुधार करना है। कल्पना का सुधार कल्पना के दमन मात्र से नहीं होता। दमन से कल्पना कभी कभी और भी प्रबल हो जाती है। जब कल्पना और इच्छा शक्ति में विरोध हो जाता है तो जितना ही अधिक कल्पना को दबाया जाता है कल्पना उतनी ही अधिक प्रबल होती जाती है। कल्पना के दबाने के प्रयत्न से इच्छा शक्ति इतनी निर्बल हो जाती है कि मनुष्य को अपने आप पर विश्वास नहीं रहता और वह जिधर कल्पना ले जाती

है उसी ओर बह जाता है। मानसिक रोग की अवस्था में कल्पना प्रबल हो जाती है और इच्छा शक्ति का उस पर नियंत्रण नहीं रहता।

कल्पना में परिवर्तन प्रति अभ्यास के द्वारा किया जा सकता है कल्पना का स्रोत मनुष्य के भाव हैं। ये भाव मनुष्य के अचेतन मन में स्थित रहते हैं। भावों में परिवर्तन होने से कल्पना में परिवर्तन हो जाता है। जिस व्यक्ति के प्रति हम शत्रुता का भाव रखते हैं उनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनायें हमारे मन आती हैं, और जिसके प्रति हमारा मैत्री भाव है उसके सम्बन्ध में कल्याण कारी कल्पनायें हमारे मन में आती हैं। हम अपने शत्रु को अपनी कल्पना में बुरा देखते हैं और अपने मित्र को भला देखते हैं। ये भाव सदा स्थानान्तरित होते रहते हैं। शत्रु के प्रति सोचे गये अभद्र विचार, अपने ऊपर अथवा अपने मित्र के ऊपर आरोपित हो जाते हैं। फिर हमारे मन में अनायास बुरे विचार, अर्थात् अपने ही अकल्याण के विचार आने लगते हैं। हम अपने आपको इस प्रकार निकम्मा बना लेते हैं अथवा आत्म-विनाश कर लेते हैं।

शत्रु भावना का विनाश मैत्री भावना से होता है। जिस व्यक्ति के प्रति हमारा मैत्री भाव है उसके प्रति सदा शुभ कल्पनायें हमारे मन में आती हैं और हम अनायास उसके प्रति कोई भलाई का काम करने लगते हैं। यदि हम किसी व्यक्ति के मन में दूसरे व्यक्ति के प्रति शत्रु भाव की उत्तेजना कर दें तो थोड़े ही दिन में उसके आचरण में भी परिवर्तन हो जायगा। भाव के बदल जाने पर कल्पना बदल जाती है और जब कल्पना बदल जाती है तो आचरण भी बदल जाता है।

मन की स्वस्थ अवस्था में हमारी कल्पना हमारे नियन्त्रण में रहती है। हमारी कल्पनायें अभद्र न हो कर कल्याण कारी होती हैं। मन की अस्वस्थ अवस्था में मन की स्थिति ठीक इसके प्रतिकूल होती है। कल्पना में सुधार प्रति-भावना से जिस प्रकार होता है, इसी तरह उसकी शक्ति रचनात्मक काम में लगाने से भी उसमें सुधार होता है। मनुष्य का मन जब निकम्मा होता है तो उसमें अनेक प्रकार के वितर्क अर्थात् पाप की कल्पनायें आती हैं, इसके प्रतिकार के लिये भगवान् बुद्ध ने सम्यग संकल्प, और आनापानसति का अभ्यास बताया है। आनापानसति से वितर्कों का निरोध होता है पर इस प्रकार के निरोध से उस मानसिक शक्ति का सदुपयोग नहीं होता जो उन वितर्कों का कारण है। सम्यग संकल्प से इस मानसिक शक्ति का शोध होता है। इसके अतिरिक्त सम्यग व्यायाम और मैत्री भावना का अभ्यास भी वितर्कों की शक्ति का शोध करते हैं।

मनुष्य को अपनी कल्पनाओं के विषय में सदा सचेत रहना चाहिये। अपनी कल्पनाओं के प्रति जागरूक रहना सम्यग स्मृति कहलाता है। अपने मन में जो व्यक्ति भोग विलास की कल्पनायें लाता है, वह भोग विलास करने लगता है। इसी प्रकार जो किसी शत्रु से बदला लेने की कल्पना अपने मन में बार बार लाता है, वह शत्रु से बदला लेने के काम में लग जाता है। जब कल्पना प्रबल हो जाती है तो वह इच्छा शक्ति के नियन्त्रण के बाहर हो जाती है। अतएव आत्म-कल्याण चाहने वाला व्यक्ति कल्पना पर ऐसा नियन्त्रण रखता है जिससे वह किसी शुभ काम में ही अपने आपको लगावे।

मनुष्य के मन के दो प्रबल भाव काम और क्रोध हैं। यही

हमारी अधिक कल्पनाओं का संचालन करते हैं। ये राग और द्वेष के परिणाम हैं। काम भावना से उत्तेजित कल्पना काम वासना की तृप्ति के पदार्थ को सुन्दर रूप में चित्रित करती है। मनुष्य पहले कई वार कल्पना में विषय भोग करता है पीछे वह वास्तविक विषय भोग में लगता है। यदि कोई व्यक्ति विषय भोग को कल्पना में विभत्स रूप में चित्रित करे तो उसे विषय भोग करने की इच्छा ही न होगी। मनुष्य की काम वासना को मारने के लिये भगवान् बुद्ध ने अशुभ भावना का अभ्यास वताया है। अशुभ भावना काम के द्वारा उत्तेजित कल्पनाओं को शान्त कर देती है। इससे काम-क्रीड़ा करने की इच्छा मर जाती है। शरीर की असंगलता का चिन्तन उसके प्रति हमारे मन में विकर्षण उत्पन्न करता है। अशुभ भावना के अभ्यास से सुन्दर पदार्थ असुन्दर दिखाई देने लगता है। सुन्दरता के प्रति ही मनुष्य के मन में आकर्षण होता है, असुन्दर पदार्थ के प्रति आकर्षण नहीं होता। काम भाव से विमुक्त होने के लिये शरीर की विभत्सता पर वार वार चिन्तन करना और अपनी कल्पना में उसके असुन्दर रूप को देखना आवश्यक है।

जिस प्रकार काम वासना का प्रतिकार अशुभ भावना से होता है, क्रोध का प्रतिकार मैत्री भावना से होता है। अपने शत्रु के सद्‌गुणों पर विचार करना, उसके कल्याण की इच्छा करना, मैत्री भावना का अभ्यास है। शत्रु का विनाश चाहना स्वाभाविक है, उसके कल्याण की इच्छा करना मानव स्वभाव के प्रतिकूल है। पर मनुष्य में अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त करने की भी योग्यता है। मनुष्य का स्वभाव अभ्यास पर निर्भर करता है। मनुष्य अभ्यास द्वारा अपने आप में चाहे जैसा परिवर्तन कर सकता है। यदि वह चाहे तो सभी संसार को

मित्र रूप में देख सकता है और उनके प्रति मित्र जैसा ही कार्य कर सकता है। यही भावना जीवन का परम पुरुषार्थ है।

जब मनुष्य पहले पहल किसी विनाशकारी कल्पना को अपने मन में लाता है तो उसे सुख होता है। यह विनाशकारी कल्पना किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति होती है। जब मनुष्य इस कल्पना में अभ्यस्त हो जाती है तो वह आत्म-विनाश का कारण बन जाती है। जिस तरह अमैत्री भावना का अभ्यास करने वाला व्यक्ति दूसरे का विनाश चाहता है और मन में अनेक अभद्र कल्पनायें उसके प्रति लाता है, वैसे ही ऐसा व्यक्ति अपने प्रति भी अनेक अभद्र कल्पनायें अपने मन में ले आता है। ये कल्पनायें अब उसके रोकने से नहीं रुकतीं। उसकी इच्छा के प्रतिकूल भी वे मन में आती रहती हैं। कभी कभी ऐसा व्यक्ति आत्म-हत्या की कल्पना अपने मन में लाता है। जब ये कल्पनायें प्रबल हो जाती हैं तो वह आत्म-हत्या भी कर बैठता है। इस प्रकार कल्पनाओं का अनियन्त्रण आत्म-विनाश का कारण हो जाता है।

प्रत्येक अवांछनीय भावना का निराकरण प्रति भावना से होता है। जब हमारे मन में अमैत्री भावना के अधिक विचार आने लगें तो हमें मैत्री भावना का अभ्यास करना उचित है। आत्मविनाश के विचारों अथवा कल्पनाओं का निवारण भी मैत्री भावना के अभ्यास से हो जाता है। यह मैत्री-भावना का अभ्यास दो प्रकार से होता है, पहले सभी लोगों के प्रति उदारता के भाव मन में लाना और आपत्तियों में बड़े लोगों की सहायता करना और दूसरे अपने लिये सभी घटनाओं को शुभ मानना। सभी का कल्याण हो— इस विचार का अभ्यास करना दूसरों के प्रति मैत्री-भावना का

अभ्यास है, और जो कुछ भी होता है हमारे कल्याण के लिये होता है, इस विचार का अभ्यास करना आत्म-मैत्री का अभ्यास है। जब मनुष्य इस प्रकार के विचारों में स्थिर मन हो जाता है तो उसके मन में अभद्र कल्पनायें नहीं आती हैं और वह आत्म-विनाश नहीं करता।

हमारी कल्पनायें किसी भी व्यक्ति के मन में शत्रुता अथवा मित्रता के भावों को उत्तेजित करती हैं। यदि किसी व्यक्ति का चित्र बनाकर हम उनके विषय में सदा यह सोचें कि वह भला मनुष्य है तो उसके स्वभाव में अज्ञात रूप से मौलिक परिवर्तन हो जावेगा, वह नित्य प्रति भला होने लगेगा। इसके प्रतिकूल यदि हम किसी व्यक्ति के विषय में नित्य प्रति सोचते रहें कि वह बहुत ही बुरा है तो धीरे धीरे वह और भी बुरा होता जाता है। हमारे विचार उसके अचेतन मन को प्रभावित करते हैं और जैसा हम उसे अपनी कल्पना में चित्रित करते हैं वह वैसा ही हो जाता है। इस प्रकार हम अपनी कल्पना से दूसरे लोगों के विचार और आचरण को भी परिवर्तित कर देते हैं। फिर जैसे विचार हम दूसरे लोगों के प्रति भेजते हैं, वे भी वैसे ही विचार हमारे प्रति भेजते हैं। यदि हम दूसरे लोगों के प्रति भले विचार भेजते हैं तो दूसरे लोग भी हमारे लिये कल्याणकारी विचार भेजते हैं। ये विचार हमारे मन में शुभ भावनायें और कल्पनायें उत्पन्न करते हैं और इस के कारण हमारे आचरण में सुधार होता है। इसी प्रकार विनाशकारी विचार दूसरे के मन को प्रभावित करने के पश्चात् अपने ही मन को प्रभावित करने लगते हैं। वे वैसे ही विचार दूसरे लोगों के मन में हमारे प्रति उत्तेजित करते हैं जैसे हम उनके विषय में लाते हैं। जैसे हम अपने मन में उनकी बुरी कल्पना

करते हैं, वे भी वैसी ही बुरी कल्पना हमारे संम्बंन्ध में अपने मन में लाते हैं। इस प्रकार दोनों का पतन होता है।

अपनी कल्पना का सुधार करना अपने जीवन का नव निर्माण करना है। जिस मनुष्य को सहज में भली कल्पनायें आती हैं वह वास्तविक रूप से सुखी है। कल्पना के अनुसार न केवल मनुष्य का आचरण परिवर्तित हो जाता है वरन् उसकी मुखाकृति और स्वास्थ भी परिवर्तित हो जाता है। अतएव कल्पना का सुधारना भारी महत्व का कार्य है।

३३

चतुराई

सांसारिक जीवन की सफलता के लिए चतुराई बड़ा आव-श्यक गुण माना जाता है। चतुर मनुष्य अपने काम को सुगमता से कर लेता है; वह अपने आप को अनेक फन्दों में पड़ने से बचा लेता है, दूसरों के मन के छिपे भावों को सहज में समझ लेता है और अपने आचरण को परिस्थिति के अनुसार बना लेता है। जिस मनुष्य में चतुराई नहीं वह पद-पद पर ठगा जाता है। संसार के लोग उसकी सरलता से अनुचित लाभ उठाते हैं। उस से अपना काम निकाल लेते हैं और इस के बाद उसे मूर्ख समझ कर उसकी हँसी उड़ाते हैं। वह दूसरों का भला कर के भी किसी प्रकार की भलाई के यश का भागी नहीं होता। चतुराई कार्य-कुशलता का एक मुख्य अङ्ग है तथा सांसारिक प्रतिष्ठा का सब से बड़ा सहारा है।

चतुराई का वास्तविक स्वरूप क्या है? इस प्रश्न पर बहुत ही थोड़े विद्वानों ने विचार किया है। अंग्रेजी में चतुराई को टेक्ट (कुशलता) के नाम से पुकारा जाता है। इस का एक स्वरूप सांसारिकता अथवा व्यवहार-कुशलता है। कुशलता अनेक गुणों के मिश्रण का नाम है। इस में बुद्धिमानी, गम्भीरता, आत्मसंयम और कार्यतत्परता आदि अनेक गुणों का समावेश होता है। इन सब गुणों का उपयोग किसी सांसारिक कार्य की कुशलता के लिए किया जाना आवश्यक है।

यदि हम चतुराई की तुलना चालाकी से करें तो उसका बहुत कुछ स्वरूप समझ में आ सकता है। चालाकी, चतुराई की जेठी वहिन है। दोनों की माता दुनियादारी है। सद्भाव, सरलता, सन्तोष और शान्ति दोनों से कोसों दूर रहते हैं। जो लोग सांसारिक वैभव के अभिलाषी हैं उन्हें चालाकी और चतुराई का सहारा सदा लेना पड़ता है। यदि हम संसार को आँख खोलकर देखें तो उसे चतुराई और चालाकी से ही भरा पावेंगे। जब हम दूसरों में इन गुणों की अधिकता देखते हैं तो हम चाहे कितने ही सरल चित्त क्यों न हों, चालाक और चतुर बनने का प्रयत्न करते हैं। यदि ऐसा न करें तो जान पड़ता है कि हमारा अस्तित्व ही न रहे।

एक वार साधु श्री कृष्ण प्रेमीभिखारी से लेखक की बातचीत हो रही थी। लेखक का कहना था कि 'यदि कोई मनुष्य दुनियाँ के लोगों के अवगुणों पर ध्यान न डाले तो उसका जीवन बड़ा सुखी रहे। हम जब दूसरों की दुष्टता की तरफ विचार करने लगते हैं तो हमारी मनोवृत्ति क्लिष्ट हो जाती है। जो व्यक्ति जिस समय किसी बात की चिन्ता करता है, वह उस समय वैसा ही हो जाता है। योग के तीसरे सूत्र की 'वृत्तिसारूप्य मितरत्र' की सत्यता, आत्मानुभव स्वयं बता देता है। जब हम दूसरों की बुराइयों का विचार करने लगते हैं तो हमारे चित्त में एक प्रकार की बेचैनी और विक्षिप्तता उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अवस्था में हम दूसरों का भला करने में बिल्कुल असमर्थ हो जाते हैं। मनुष्य का सांसारिक अनुभव ज्यों-ज्यों बढ़ता है त्यों त्यों वह दुष्ट होता जाता है। उस के चित्त की सरलता जो बाल्य काल में रहती है, और जिसके कारण वह सहजानन्द का अनुभव करता है, जाती रहती है। अतएव जीवन को सुखी

बनाने के लिये यह आवश्यक जान पड़ता है कि मनुष्य भोला-भाला ही बना रहे।

साधुजी ने उपर्युक्त कथन सुनकर गम्भीरता पूर्वक कहा कि संसार में रहकर यह सम्भव नहीं, जब बालक संसार में आता है तो वह सब चीजों को सुख की सामग्री समझता है। वह दीपक की लौ को एक प्यारा खिलौना समझ कर पकड़ने दौड़ता है और अपना हाथ जला लेता है। जब उसका हाथ एक बार जल जाता है तो फिर वह सचेत हो जाता है, और ऐसे प्रलोभन वाले पदार्थों को देखकर भागता है।

साधु जी ने अपने जीवन के दो-एक अनुभव बताये, जिससे उन्हें सदा सचेत रहने का सबक मिला, और जिसके कारण वे अपरिचित व्यक्ति से सावधान रहने लगे। जब वे विलायत से लखनऊ आये तो एक सज्जन उनके पास आकर ठहरे। उनकी बोलचाल व मीठी बातों से साधुजी को, उन पर किसी प्रकार से धोखा देने का सन्देह नहीं हुआ। जब अवसर मिला, वे ही सज्जन उनके कमरे से आठ सौ रुपया लेकर चम्पत हो गये। दूसरे बार एक विद्यार्थी, जिस पर साधु जी का बहुत स्नेह था, उनकी जेब से अलमोड़ा जाते समय देखते ही देखते रुपया निकाल ले गया। दोनों व्यक्तियों की चोरी मालूम हो गई। इन घटनाओं ने उन्हें सचेत रहने का पाठ पढ़ा दिया। तब से वे भी सांसारिक व्यवहार में चतुराई से काम लेने लगे। दूध का जला छाछ भी फूँक फूँक कर पीता है।

हर मनुष्य को चतुर तो बनना ही पड़ता है, पर प्रश्न यह है कि क्या यह गुण प्रशंसनीय गुण है? हाँ, कुछ हद तक अवश्य है। पर अधिक चतुराई अर्थात् छल आत्मा को भाता नहीं। हजरत ईसा ने जो अपने शिष्यों को पहाड़ पर उपदेश

दिया, उसमें यह कहा था—जो मनुष्य सरल चित्त हैं वे धन्य हैं, क्योंकि वे ही परमात्मा को देखेंगे। इस कथन में मौलिक सत्य है।

चालाकी और चतुराई दोनों में कुछ न कुछ समानता रहती है। चालाक मनुष्य स्वयं दूसरों को धोखा देने का प्रयत्न करता है। उसका बाहरी व्यवहार कुछ और होता है और आन्तरिक इच्छायें कुछ और होती हैं। उसके उद्देश्यों का पता दूसरों को नहीं चल पाता। देखने में वह बड़ा उदार, हँसमुख, सहनशील, और मृदुभाषी होता है; पर उसके हृदय में सदा कतरनी चला करती है। वह अपने मन की बातें दूसरों को नहीं बताता, परन्तु सदा दूसरों के मन की बात जानने की चेष्टा किया करता है। अपना मतलब साधने के लिये वह दूसरों को साष्टाङ्ग दण्डवत करता है, हजारों बार उनकी कुशलता पूछता है और जब मतलब निकल जाता है तो जैसे हम नारंगी को निचोड़ कर उसके छिलके को फेंक देते हैं, उसी प्रकार वह उनका परित्याग कर देता है। इतना ही नहीं यदि अपने स्वार्थ-साधन में उसकी भलाई करने वाला व्यक्ति बाधक हो तो उसका विनाश करने में वह तनिक भी नहीं हिचकता। यह चालाक मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है। उसके जीवन में न तो किसी प्रकार की नैतिकता रहती है और न वास्तविक धार्मिक भाव। हाँ, धर्म का आडम्बर अवश्य रहता है।

चालाक मनुष्य की परख करने वाला व्यक्ति चतुर कहा जाता है। पर जो जिसकी खोज करने में समर्थ होता है उसमें भी अवश्य वे गुण रहने चाहिये जिनके कारण वह खोज के कार्य में सफल होता है। चोर का पता चोर ही लगा सकता है। यदि चोर चालाकी में निपुण है तो पुलिस चतुराई में;

पर चोरी कर सकने में दोनों निपुण होते हैं। एक व्यक्ति अपनी चोरी की वासना को सीधे मार्ग से तृप्त करता है, और दूसरा घुमा फिरा कर।

चालाक मनुष्य झूठ बोलता है और जब तक वह पकड़ा न जाय, झूठ बोलने के लिये उसके मन में किसी प्रकार की आत्म-ग्लानि नहीं होती। वह एक ही प्रकार के नियम को मानता है और वह है, बाहरी दण्ड। चतुर मनुष्य शब्दों से सदा सच बोलता है, पर उसका सच प्रमाणिक नहीं रहता। वह अपनी बात के अनेक अर्थ लगा लेता है। वह अपनी समझ में नैतिक जीवन ही व्यतीत करता है, परन्तु वास्तव में उसके जीवन में अनेक प्रकार का असत् भरा रहता है।

चतुर मनुष्य को अपने आपकी परीक्षा करते रहना आवश्यक है। उसे आत्म-ज्ञान लेशमात्र नहीं रहता। वह दुनियाँ के धोखों से बचने में कुशल है; पर वह अपने आपको धोखा देता है। अतएव चतुराइयों में सबसे बड़ी चतुराई यह है कि मनुष्य अपने आपको जानने की चेष्टा करे। चतुराई मनुष्य व्यवहार-कुशलता भले ही प्राप्त कर ले, अपने धन, मान-मर्यादा की रक्षा करने में भले ही सफल हो, पर वह निजानंद लाभ नहीं करता। वह सच्चे लोगों की संगत से दूर रहता है। वह संसार के सभी लोगों को धूर्त समझता है, अतएव वह नर में रहने वाले नारायण को पहचान नहीं पाता। सच्ची चतुराई वही है जिससे मनुष्य को आत्म-ज्ञान हो।

३४

चिन्ता

संसार में कोई विरला ही ऐसा व्यक्ति होगा जिसे किसी प्रकार की चिन्ता न हो। चिन्ता एक मानसिक क्लेश है जिससे प्रायः कोई भी व्यक्ति मुक्त नहीं। चिन्ता का विषय सदा बदलता रहता है। बालक, वृद्ध, अमीर, गरीब, रोगग्रस्त और निरोग, सभी को कुछ न कुछ चिन्ता लगी रहती है। इतना ही नहीं मनुष्य का जीवन ज्यों ज्यों विकसित होता है त्यों त्यों उसकी चिन्ता के विषय अधिकाधिक जटिल होते जाते हैं। बालक को केवल भोजन-प्राप्ति की चिन्ता रहती है, सो भी भूख लगने पर। जब वह बड़ा होता है तो पढ़ने लिखने की चिन्ता, परीक्षायें पास करने की चिन्ता, जीविकोपार्जन की चिन्ता और मान, प्रतिष्ठा, धन दौलत आदि प्राप्त करने की चिन्तायें क्रमशः उसके मन पर अपना प्रभुत्व जमा लेती हैं। बालक की चिन्तायें तो क्षणिक होती हैं; पर प्रौढ़ लोगों की चिन्तायें वर्षों तक ठहरती हैं।

मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह चिन्ता के बिना रह नहीं सकता। जिस मनुष्य को चिन्ता नहीं, वह मनुष्य नहीं; या तो वह देवता है या पशु। चिन्ता की मनोवृत्ति का यदि विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि इसका कारण जीव को अपनी अपूर्णता का ज्ञान होना है। मनुष्य चाहे कैसी स्थिति में क्यों न रहे, वह कभी अपनी स्थिति से सन्तुष्ट नहीं रहता।

एक जगह कारलाइल महाशय लिखते हैं कि यदि एक जूता पालिश करनेवाले (शू-ब्लेक) को आधी सृष्टि का मालिक बना दिया जाय तो वह तुरन्त ही शेष सृष्टि के मालिक से झगड़ने लगेगा। इस अतृप्ति का कारण आत्मा की पूर्णता प्राप्त करने की इच्छा है। वह जब तक इस पूर्णता को प्राप्त नहीं कर लेता, सन्तुष्ट नहीं रह सकता। उसकी चिन्ता का विषय कुछ न कुछ रहा ही करता है।

वह पूर्णता कहाँ है? क्या वह अपूर्णता की अनुभूति के अभाव में है? हाँ, कुछ व्यक्ति भ्रम वश इस बात में विश्वास करते हैं। मधुशाला संप्रदाय ऐसे ही व्यक्तियों का चलाया हुआ है। चिन्ता से व्याकुल मनुष्य तीन बातों का आश्रय लेता है—नींद, नशा और मृत्यु। मनुष्य को यदि दुःख है तो वह उसकी चेतनता के कारण है। जिस समय वह अपनी चेतनता को खो देता है, वह अपनी चिन्तायें भी खो देता है। नींद मन की अचेतन अवस्था है और उसमें चिन्तायें अपने आप शान्त रहती हैं। अगाढ़ नींद (सुषुप्ति) की अवस्था में हम लकड़ी या पत्थर के समान जड़-मूढ़ हो जाते हैं। जाग्रत या स्वप्नावस्था में चित्त चंचल रहता है। सुषुप्ति में वह शान्त हो जाता है और इसी के कारण जागकर वह फिर नई शक्ति के साथ संसार में उपस्थित हो जाता है।

निद्रा, जो एक प्रकार की सुखदायिनी मनोवृत्ति है, सदा वर्तमान नहीं रहती; वह कुछ काल के बाद अपने आप भंग हो जाती है और फिर मन में अनेक तरंगें उठने लगती हैं। इनसे बचने के लिये कुछ लोग भ्रमवश नशीली चीजों का सेवन करते हैं। यह मन को एक प्रकार का क्लोरोफार्म देकर बेहोश करना है जिससे वह किसी तरह संसार की चिन्ताओं

को भुलाये रहे। अनेक आधुनिक सुधारक नशीली चीज़ों की बिक्री कानून द्वारा बन्द करना चाहते हैं और मदिरा-पान रोकने के लिये अनेक प्रयत्न कर रहे हैं; परन्तु चिन्तायुक्त मनुष्यों के रहते क्या इस प्रकार की चीजों का प्रचार रोका जा सकता है; जब तक मनुष्य के मन को तीव्र चिन्तायें सताया करेंगी, वह इनसे मुक्ति पाने के लिये कुछ न कुछ ऐसे उपाय अवश्य ढूंढ़ेगा, जिससे उसे मानसिक स्तब्धता प्राप्त हो जाय। जो मनुष्य ऐसी चिन्ताओं से व्यथित रहता है, जिनसे उसे छुटकारा पाने की कोई आशा ही नहीं दिखाई देती, वह मृत्यु का आवाहन करता है। मृत्यु दीर्घ काल तक रहने वाली निद्रा है। दोनों अवस्थाओं में मन का आश्रय अभाव है।

विवेकी पुरुष चिन्ता से मुक्त होने के लिये न तो निद्रा और नशे का और न मृत्यु का ही आश्रय लेता है। इन का आश्रय लेना तो ज्ञान-मार्ग से विमुख होना है; यह जीवन संग्राम से भागना है। अविवेकी और कायर मनुष्य कभी सुखी नहीं रहता। उसे चिन्ता खा जाती है। जीवन-संग्राम से भागने की मनोवृत्ति जब प्रबल हो जाती है तब मन दुर्बल हो जाता है और इसके परिणाम स्वरूप छोटी चिन्तायें भी भयंकर हो जाती हैं। चिन्ता के स्वरूप को जानने से ही हम उससे मुक्त हो सकते हैं।

चिन्ता हमारे आध्यात्मिक ह्रास से पैदा होती है। जब हम बार बार किसी विषय की चिन्ता करते हैं तो हमारी मानसिक शक्ति खर्च हो जाती है। मानसिक शक्ति खर्च होने पर किसी भी विषय का मन में आ जाना चिन्ता का कारण बन जाता है। जैसे ज्वर पीड़ित मनुष्य को सब प्रकार के भोजन कड़वे लगते हैं, इसी प्रकार मानसिक शक्तिरहित पुरुष को प्रत्येक

सांसारिक विषय चिन्ता का कारण बन जाता है। विषयों के विषय में सोचने से चिन्तायें कम नहीं होती, वरन् बढ़ती ही जाती हैं। सांसारिक विषयों पर चिन्तन करना ही चिन्ता का स्वरूप है। यदि कोई मनुष्य चिन्ता से मुक्त होना चाहता है तो उसे चाहिये कि वह किसी भी विषय के बारे में देर तक न सोचा करे। ऐसा करने से ही वह अपने जीवन की अनेक समस्याओं को हल कर लेता है। एडवर्ड कारपेन्टर अपनी एक पुस्तक में लिखते हैं "तत्काल के लिये किसी विचार का विनाश कर दो, तो उसी विचार की शक्ति अव्यक्त रूप से तुम्हारी समस्याओं को सहज में ही सुलझा देगी।

हज़रत ईसा ने जब अपने शिष्यों को अपने सिखलाये हुये धर्म के प्रचार के लिये देश-विदेशों में भेजा तो उन्हें यह उपदेश दिया—"तुम लोग सदा निडर रह कर लोगों को ईश्वर का मार्ग बताना। कोई तुम्हें तकलीफ दे, उसे सहना। यदि तुमें कोई बंदी बनाकर किसी न्यायाधीश के सामने लाये तो पहले से यह नहीं सोचना कि हम उसे क्या जवाब देंगे। न्यायालय में जो कुछ भी बात मन में आवे वह उससे कहते जाना"। ईसा के इस उपदेश में यह बात स्पष्ट है कि भविष्य के बारे में चिन्ता करना व्यर्थ ही नहीं अपितु हानि कारक है।

चिन्ता को नष्ट करने का एक उपाय यह है कि हम सदा सोचें कि जो कुछ होता है वह सब हमारे कल्याण के लिये है। यह शिव-भावना का अभ्यास कहलाता है। हमारे जीवन में ऐसी अनेक घटनायें घटती हैं जो उस समय तो बुरी प्रतीत होती हैं पर कालान्तर में कल्याण रूप बन जाती हैं। इसलिये धैर्यवान् पुरुष दुःखदाई घटनाओं से उतना दुःखी नहीं होता जितना साधारण मनुष्य होता है। वह सोचने लगता है कि जो

बात आज कष्टदायक है, भविष्य में उसका परिणाम अच्छा होगा। हम सर्वज्ञ नहीं, अतः भविष्य में होने वाली बातों को हम नहीं जान सकते। पर हमारे निश्चयात्मक विचारों में फलित होने की शक्ति है। जिसका जिस प्रकार का विश्वास होता है, जैसी भावना होती है, वैसी ही उसे सिद्धि प्राप्त होती है। मनुष्य का विचार एक बीज के समान है जो कुछ दिन तक अदृश्य रह कर संसार में वृक्ष के रूप में प्रकट होता है। हम अव्यक्त मन की भूमि में जैसा विचार डालते हैं, वैसा ही वृक्ष, फल और फूल पा सकते हैं। यह एक अटल सिद्धान्त है।

चिन्ता उस मनुष्य के चित्त को सदा विकल करती है जो किसी निश्चित नियम को नहीं मानता। स्थायी तत्व में विश्वास इस विचार को दृढ़ कर देता है कि इस सत्ता के नियन्त्रण में सब कुछ कल्याण के लिये ही होता है। मन का स्वरूप ही संकल्प विकल्पात्मक है। आध्यात्मिक चिन्तन मन की इस चञ्चलता को रोकता है। जब मन शान्त होता है तब चिन्तायें अपने आप विलीन हो जाती हैं। अतएव नित्य आध्यात्मिक चिन्तन करना चिन्ता से मुक्त होने का उपाय है।

आध्यात्मिक चिन्तन से आन्तरिक शक्ति ही प्राप्त नहीं होती, वरन् चित्त में विषय-विराग भी उत्पन्न होता है, धीरे धीरे आत्म-ज्ञान का उदय होता है। हमें यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है कि आत्मा अपने आप ही आनन्द-रूप है। सांसारिक पदार्थों के आनन्द आत्मानन्द के आभास मात्र हैं।

नारशिशस नामक एक यूनानी बालक अपनी परछाईं देख कर उसके स्वरूप पर मोहित हो गया था। हम भी अपने ही प्रतिबिम्ब से मोहित रहते हैं। यह प्रतिबिम्ब संसार है। जब

तक मनुष्य को आत्मज्ञान नहीं होता, दुःख और चिन्तायें सदा वर्तमान रहती हैं। ये ईश्वर के भेजे हुये दूत हैं, जो मनुष्य को सदा त्रस्त और बेचैन किये रहते हैं। इन्हीं के कारण मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न करता है।

किसी धनी या वैभव वाले पुरुष को देख कर हम प्रायः सोचने लगते हैं कि उसे किसी भी प्रकार की चिन्ता न होगी। पर यथार्थ बात इसके बिलकुल विपरीत है। गरीब मनुष्य को थोड़ी ही चिन्तायें रहती हैं, धनी मनुष्य को धन-रक्षा और उसकी वृद्धि में मन फँसे रहने के कारण भारी-भारी चिन्तायें होती हैं। संसार में कोई भी वस्तु बिना मानसिक प्रयत्न किये न उपार्जित होती है और न ठहरती है। हम प्रायः व्यक्त रूप में इस प्रयत्न को नहीं देख पाते, पर अव्यक्त रूप से यह वर्तमान रहता है।

वास्तव में धन प्राप्त करने के लिये अनेक पापाचरण करने पड़ते हैं। धनी पुरुष एक तरफ तो बड़ा चालाक होता है और दूसरी तरफ जगत् में ख्याति भी चाहता है कि उसे सब लोग भला और सच्चा समझें। इसके बिना उसके धन की रक्षा नहीं हो सकती। उसके प्रायः कोई भी कार्य निःस्वार्थ नहीं होते। उसका हृदय शंकायुक्त और सदा अन्तर्ज्वाला से संतप्त रहता है।

पिछले पृष्ठों में आत्मा की समीकरण की प्रवृत्ति की चर्चा की गई है। यह प्रवृत्ति भौतिक जगत् में प्रत्येक स्थल में वृद्धि के साथ साथ अपने आप न्यूनता पैदा कर लेती है। धनी या वैभववान पुरुष प्रायः या तो पुत्रहीन होता है या कुटिल दुराचारिणी स्त्री की पीड़ा से सदा दुःखी रहता है। जो लोग बाहर से भरे-पूरे दिखाई देते हैं, वे भीतर से रीते रहते हैं। उनके

हृदयागार में चिन्तारूपी अनेक साँप-बिच्छू घर किये रहते हैं जो उन्हें सदा दुःखी बनाये रहते हैं। इनके कारण धनी लोग क्षणभर के लिये भी शान्ति लाभ नहीं कर पाते।

मनुष्य की सब चिन्तायें अपनी ही बनाई होती हैं। कोई भी भावी घटना हमारी चिन्ता का विषय होगी या नहीं, यह हमारे मन पर निर्भर है। जिस मनुष्य का मन दुर्बल है यदि हम उसे एक चिन्ता से मुक्त कर दें तो झट दूसरी कोई चिन्ता उसे पकड़ लेगी। बाह्य सामग्री चिन्ता का निवारण नहीं करती। चिन्ता का निवारण तो आन्तरिक स्थिति में परिवर्तन से ही होता है। यह परिवर्तन सात्विक अभ्यास, आध्यात्मिकचिन्तन और आत्मज्ञान से होता है। निर्विषयता प्राप्त करना ही चिन्ता से मुक्त होना है और निर्विषयता योगी और ज्ञानी पुरुषों को ही प्राप्त होती है।

३५

सचाई

संसार के सभी लोग सचाई की बड़ाई करते हैं। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं जो मिथ्याचरण और दूसरे को धोखा देने को भला कहता हो। पर यह भी एक साधारण अनुभव की बात है कि विरला ही व्यक्ति सचाई को पूर्णतः अपने व्यवहार में लाता है। इतना ही नहीं, जो व्यक्ति जितना अधिक दूसरों से सच्चे व्यवहार की आशा करता है, वह प्रायः उतना ही स्वयं धूर्त होता है। धूर्त व्यक्ति को संसार के सभी लोग छल और कपट से भरे दिखाई पड़ते हैं। वह अपने कपट-व्यवहार की ओर दृष्टि नहीं डालता पर दूसरों के कपट व्यवहार से सदा सतर्क रहता है। ऐसा पुरुष जितना भोले भाले लोगों की प्रशंसा करते देखा गया है उतना अपने ही जीवन में सत्य व्यवहार करते हुए नहीं पाया जाता।

अब प्रश्न यह आता है कि सच्चे लोग सचाई की महिमा बखान करें तो युक्ति संगत है, झूठे लोग क्यों सचाई को अच्छा कहते हैं, वे लोग क्यों सच्चे लोगों की खोज में रहते हैं! संसार के प्रायः सभी लोग अपने आप सच्चे न होकर फिर सच्चेपन को क्यों अच्छा कहते हैं, और यदि वे एक प्रकार के व्यवहार को अच्छा कहते हैं तो तदनुकूल आचरण क्यों नहीं करते?

प्रश्न के पहले भाग का उत्तर यह है कि सच्चे लोग जितनी सरलता से ठगे जा सकते हैं उतनी सरलता से झूठे लोग नहीं ठगे जा सकते हैं। यदि धूर्त लोगों को उन्हीं जैसे लोगों से सदा व्यवहार करना पड़े तो उनकी धूर्तता का कुछ भी महत्व न रह जाय। ठगों को अपनी ठग-विद्या से तभी लाभ होता है जब उन्हें दूसरे लोग ठगौरी करने को मिलते हैं। ठगों को भोले-भाले आदमी प्रिय होते हैं; चतुर आदमी उन्हें अप्रिय होते हैं। जो व्यक्ति उनके नग्न स्वरूप को उन्हीं के सामने खड़ा कर दे उससे बड़ा दुश्मन वे किसी को नहीं मानते। हम सचाई की प्रशंसा आत्मरक्षा की भावन से करते हैं। हम दूसरों से ठगे जाना नहीं चाहते, अतएव सच्चे लोगों को भला कहते हैं। पर जब हम सचाई को भला गुण कहते हैं, तब हम अपने आन्तरिक मन से यह नहीं चाहते कि हम स्वयं सच्चे बनें और सब प्रकार की धूर्तता व चतुराई से अलग रहें।

इसका क्या कारण है? इसका कारण यही है कि वास्तव में हमने सचाई के महत्व को नहीं समझा। सचाई से व्यवहार करने वाला व्यक्ति सांसारिक दृष्टि से प्रायः घाटे में रहता है, अतएव हम मन ही मन सचाई को एक प्रकार की मूर्खता समझते हैं। विरला ही व्यक्ति सचाई की मौलिकता को ठीक से समझता है। हमें अपने मन में अनेक युक्तियों से यह बिठालना आवश्यक है कि वास्तव में धूर्तता त्याज्य है और सचाई लाभकारी है। बड़े आश्चर्य की बात यह है कि जो व्यक्ति सारे जगत को युक्तियों द्वारा सचाई, कर्त्तव्यपरायणता और सरलता की मौलिकता को समझा सकता है, वही उन गुणों से वंचित रहता है। सचाई का उपदेश देने वाले ही प्रायः बड़े धूर्त होते हैं। जिस बात को तीक्ष्ण बुद्धिवाला व्यक्ति

अनेक तरह से लोगों को समझा सकता है, ठीक उसी बात के प्रतिकूल उसका आचरण होता है। अतएव इस प्रकार के विद्वान से संसार के लोग धूर्तता ही सीखते है न कि सचाई। वास्तव में ऐसे विद्वान विद्वान ही नहीं, ये तो परम मूर्ख हैं। तभी तो महात्मा कबीर ने कहा है—

पंडित और मसालची, इनकी याही रीत।
औरन को करैं चांदनों, आप अंधेरे बीच॥

सच्चाई का वास्तविक पुरस्कार क्या है, यह जानना एक दिन की बात नहीं। सच्चे काम का फल भला होता है और झूठे का बुरा—यह सम्पूर्ण जीवन के अनुभव के पश्चात् किसी किसी व्यक्ति के समझ में आता है। झूठेपन से मनुष्य को तत्काल ही लाभ होता है। यदि कोई बालक ने अच्छी तरह से अपना पाठ याद नहीं किया और वह नकल करके परीक्षा में पास हो जाता है तो वह नक़ल करने के अवसर से लाभ उठाता है। यदि वह नकल करने के अवसर से लाभ न उठावे तो उसे एक पूरा साल पुरानी कक्षा में ही बिताना पड़ता है; अतएव झूठे आचरण के लाभ को देख कर मनुष्य झूठा बन जाता है।

मनुष्य सदा छोटे मार्ग को ढूँढ़ा करता है। इसी प्रवृत्ति के कारण वह सच्चाई के लम्बे रास्ते को छोड़ कर धूर्तपने में जाता है। इस प्रकार के आचरण से मनुष्य अन्त में दुःख भोगता है, यह विचार उसे नहीं आता। चोर चोरी करते समय यदि यह सोचने लग जाय कि उसे प्रत्येक चोरी के काम के लिये कभी न कभी दंड मिलेगा तो वह चोरी क्यों करे? मनुष्य को अपने कामों के नज़दीक के परिणाम

दिखाई देते हैं, उसे अंतिम परिणाम नहीं दिखाई देते । इस लिये वह अपने आपको लालच से नहीं रोक पाता ।

जिस मनुष्य का हृदय शुद्ध है, वह प्रत्येक काम के देर में होने वाले शुभ और अशुभ परिणाम को तुरन्त देख लेता है। प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव दो प्रकार की प्रवृत्तियों से मिल कर बना है—एक उसे स्वार्थपरायण बनाती है और दूसरी उसे परोपकार में लगाती है । ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ समान रूप से प्रबल हैं। जब मनुष्य की स्वार्थ-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ प्रबल होती हैं तो वह छल, कपट और धूर्तता से काम लेता है; और जब उसकी मानसिक प्रवृत्ति परोपकार की ओर जाती है, अर्थात् जब वह परमार्थ का चिंतन करता है, तो वह सचाईका मार्ग ग्रहण करता है। जो मनुष्य अपने आप के प्रति सतर्क है वह जब कभी भी सच्चे मार्ग से विचलित होता है तो अपनी त्रुटि को तुरन्त समझ जाता है। उसे उस भूल को सुधारे बिना चैन नहीं मिलती। मनुष्य संसार को धोखा देने में भले ही सफल हो जाय, वह अपने आपको धोखा देने में सफल नहीं हो सकता। उसे इसके लिये कष्ट उठाना पड़ता है। दुराचारी का आत्मा सदा उसे कोसता रहता है। यदि दुराचारी पुरुष अपने दुराचार को नहीं छोड़ता तो धीरे धीरे वह एक ऐसी स्थिति में पहुंच जाता है जहाँ से मुक्त होना असंभव हो जाता है। उसका एक न एक दिन विनाश होता है।

देखा गया है कि झूठ और मक्कार मनुष्य को झूठे और मक्कार लोगों की सहायता खोजनी पड़ती है। जब उसे ऐसे लोग नहीं मिलते हैं तो वह भले लोगों की नीच प्रवृत्तियों को ही उभाड़ा करता है जिससे, दूसरे लोग उसकी बुराइयों का

संसार में प्रदर्शन न करें। वह दूसरों की बुराइयों को सहता है और उनमें भी स्वार्थ-बुद्धि का प्रचार करता है; किन्तु, इस प्रकार का व्यवहार उसको विनाश की ओर ले जाता है।

हमें यह समझना बड़ा ही कठिन है कि प्रत्येक प्रकार के छल और कपट हमारी आध्यात्मिक हानि करते हैं। जिस प्रकार चोर सभी लोगों से डरता है, इसी तरह मक्कार मनुष्य का मन सदा उद्विग्न रहता है। उसकी धार्मिकता उसे आन्तरिक शान्ति नहीं देती। संसार के सभी पदार्थ मन की शान्ति के लिये हैं। मिथ्याचारी को संसार की और वस्तुएँ क्यों न मिल जायँ, मन की शान्ति नहीं मिलती। उसका हृदय आन्तरिक ज्वाला से सदा संतप्त रहता है। जब इस तरह दिन प्रतिदिन के व्यवहार से उसका आध्यात्मिक बल नष्ट हो जाता है, तो उसका बाह्य जगत में भी पतन हो जाता है। जैसे जैसे वह ऊँचा बढ़ता है उसकी तृष्णा बढ़ती ही जाती है। उसमें ईर्ष्या, क्रोध आदि भी दिनोंदिन बढ़ते जाते हैं। ये फिर उसके संसार में पतन के कारण बन जाते हैं।

अस्तु, सचाई का पुरष्कार अदृश्य है। यह ज्ञान की दृष्टि से ही जाना जा सकता है। सच्चा पुरुष प्रायः दूसरों द्वारा ठगा जाता है। पर उसे वे मानसिक यन्त्रणायें नहीं होतीं जो ठगने वाले चतुर व्यक्ति को होती हैं। उसे सदा सबसे डरते नहीं रहना पड़ता है। उसका मन शान्त रहता है। वह तुरन्त ऊँचे पद पर नहीं पहुँचता, पर कालान्तर में उसका उत्थान अवश्य होता है; जिसे कोई रोक नहीं सकता। धूर्त मनुष्य की उन्नति अस्थायी होती है, सच्चे की उन्नति स्थायी रहती है। वह अपनी अवनति अवस्था में भी स्वर्गीय सुख का उपभोग करता है, धूर्त व्यक्ति ऊपर से उन्नत पर वास्तव में नर्क की यन्त्रणा भोगता रहता है।

३६

प्रसन्नता

प्रसन्नता किसको प्यारी नहीं है। कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो अपने आप प्रसन्न न रहना चाहता हो? कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो प्रसन्न व्यक्ति के समीप न ठहरना चाहता हो? हम सभी, बालक को प्यार करते हैं। क्यों? इसलिये ही न कि बालक उस प्रसन्ता में रहता है जो हमें दुर्लभ है। खिला हुआ फूल सभी को प्यारा है, मुर्झाये फूल का तिरस्कार सभी करते हैं। रोते हुये मनुष्यों से सभी का जी ऊब जाता है, हँसते हुये का स्वागत सभी करते हैं, उनसे जी कभी नहीं ऊबता। जिसका मन प्रसन्न नहीं उसके पास कुछ नहीं, और जिसका मन प्रसन्न है उसके पास सब कुछ है।

प्रसन्नता शक्ति की उपस्थिति का सूचक है। जिस मनुष्य के पास अध्यात्मिक शक्ति है वही प्रसन्न रह सकता है। प्रसन्नता स्वयं भी उस शक्ति की उत्पादक है। जो मनुष्य जितना प्रसन्न रहता है वह अपना आध्यात्मिक बल उतना ही बढ़ा लेता है। इतना ही नहीं वह अपनी शारीरिक शक्ति की भी वृद्धि कर लेता है। प्रसन्न मन रहने पर शरीर की अमृत पैदा करने वाली ग्रन्थियाँ अपना काम भली प्रकार न करती हैं और शरीर में ऐसे रसों का प्रवाह चलाती हैं जिससे शरीर अक्षय बना रहता है और वृद्धि करता है। विरला ही प्रसन्न चित्त मनुष्य रोगी रहता है।

प्रसन्नता मानसिक तप से प्राप्त की जाती है। बालक की प्रसन्नता प्रकृतिदत्त है। पर उसकी प्रसन्नता सरलता से भी भंग हो जाती है। प्रौढ़ मनुष्यों की प्रसन्नता पुरुषार्थ से उपलब्ध होती है। यह साधना से आती है। यह प्रसन्नता प्रतिकूल परिस्थितियों से नष्ट नहीं होती। प्रौढ़ लोगों की प्रसन्नता ही वास्तविक प्रसन्नता है, क्योंकि यह स्थायी रहती है। इस प्रसन्नता को हम सभी पा सकते हैं। इसके लिये हमें अपनी आध्यात्मिक शक्ति बढ़ानी पड़ेगी। शक्ति की वृद्धि उस शक्ति की वृद्धि के उपायों को काम में लाने से हो सकती है। जिस प्रकार शरीर की शक्ति स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमों के पालन से बढ़ती है, इसी तरह मन की शक्ति भी आध्यात्मिक जीवन के नियमों के पालन से बढ़ती है। संसार के सभी धर्म-ग्रन्थों ने इस आध्यात्मिक शक्ति के बढ़ने के उपाय बताये हैं। भारतवर्ष ने तो इस विषय का एक विज्ञान ही निर्माण कर दिया है।

आध्यात्मिक शक्ति के संचय के चार उपाय योगवसिष्ठ में बताये हैं। ये हैं शम, सत्संग, संतोष और विचार। मन को नियमित करना ही शम है। सात्विक उपवास, इन्द्रिय निग्रह आदि शम के ही अन्तर्गत हैं, सत्संग से कुप्रवृत्तियाँ निर्बल होती हैं और अच्छी प्रवृत्तियाँ सबल होती हैं, अनेक प्रकार के ऐसे सद्विचार मन में उठते हैं जो हमें अपने मन को काबू में लाने में सहायक होते हैं। दूसरे व्यक्तियों का आध्यात्मिक बल हमें अपने आपको सम्हालने में गुप्त रूप से सहायता देता है और ज्ञान में हमारी रुचि बढ़ाता है। विचार के द्वारा हम भले-बुरे और सत्-असत् की पहचान करते हैं। मनुष्य विचार के द्वारा अपने आपको ऊँचा बनाता है और परम पद की प्राप्ति करता है। पशुओं में और बालकों में विचार

करने की योग्यता नहीं, अतएव वे परम पद की प्राप्ति नहीं कर सकते।

यदि हम एक ही शब्द में आध्यात्मिक शक्ति के वृद्धि का उपाय बताना चाहें तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि सांसारिक विषयों में मन को जाने से रोकने से आध्यात्मिक शक्ति बढ़ती है और सांसारिक विषयों में उसके भ्रमण करने से उसकी शक्ति घटती है। विषयों में रमण करना ही मानसिक शक्ति का विनाशक है। यदि प्रसन्नता स्वयं शक्ति की उत्पादक नहीं तो रक्षक अवश्य है। ऐसे प्रत्येक विषय से मन को हटाते रहना चाहिये, जो प्रसन्नता में बाधक हो। अपनी हानि पर देर तक न सोचना चाहिये। हानि की भावना प्रसन्नता का नाश कर देती है। इस तरह हमारी आध्यात्मिक शक्ति का भी ह्रास हो जाता है। सब प्रकार की घटनाओं के अच्छे पहलू पर विचार करने से मन की प्रसन्नता बनी रहती है। संसार की प्रत्येक घटना के दो पहलू होते हैं। जिस मनुष्य का मन घटना के बुरे पहलू की ओर चला जाता है, वह अपनी प्रसन्नता अपने हाथों से नष्ट कर डालता है। इसके विपरीत जिसका मन अच्छे पहलू पर चला जाता है वह अपने आपको प्रसन्न बनाये रखता है। प्रत्येक प्रकार की हानि से मनुष्य का कुछ न कुछ लाभ होता है और प्रत्येक लाभ से कुछ न कुछ हानि होती है। हानिकारक घटनाओं में लाभ का ढूँढ़ निकालना बुद्धिमानी का काम है। यदि कोई लाभ प्रत्यक्ष न दिखाई दे तो हमें अपने में विश्वास रखना चाहिये कि उसका लाभ तत्काल अप्रत्यक्ष है, पीछे प्रत्यक्ष हो जायगा।

प्रसन्नता एक संक्रामक भाव है। जिस प्रकार रोग संक्रामक होता है उसी तरह स्वास्थ्य भी संक्रामक होता है।

रोगी मनुष्य अपने रोग का प्रचार आस पास रहने वाले लोगों में करता है, उसी तरह स्वस्थ मनुष्य को देख कर दूसरे लोग भी प्रसन्न हो जाते हैं। प्रसन्नता का भी यही हाल है। शारीरिक विकार उतने संक्रामक नहीं होते जितने मानसिक विकार होते हैं। एक रोगी मनुष्य को देख कर दूसरा तुरन्त रोगी नहीं बन जाता; पर एक दुःखी मनुष्य को देख कर दूसरे का हृदय दुःख से भर जाता है। इसी तरह प्रसन्न चित्त तथा हँसते हुये लोगों के समाज में जाकर हम भी प्रसन्न चित्त हो जाते हैं और हँसने लगते हैं।

हम इस तरह देखते हैं कि मनुष्य अपने आप प्रसन्न रहकर अनायास परोपकार करता है। अंग्रेजी लेखक स्टीवेन्सन महाशय का कथन है कि प्रसन्न चित्त व्यक्ति का मिलना पाँच-पौंड के नोट के मिलने से अधिक लाभदायक है।* मनुष्य जो काम प्रसन्नता की अवस्था में करता है उसी से दूसरों का वास्तविक लाभ होता है। बरबस किये गये काम से कोई लाभ नहीं होता। जब कोई मनुष्य बाध्य होकर दान देता है तो ऐसा दान उसका कोई कल्याण नहीं करता। प्रसन्नता से दिया हुआ दान ही दोनों पक्षों का कल्याण करता है। प्रसन्नता की अवस्था में जो कार्य किया जाता है, वह त्रुटिहीन रहता है यदि कोई ऐसे काम करते समय भूल हो जाय, तो वह तुरन्त दिखाई दे देती है। अप्रसन्नता की अवस्था में किये काम की भूलें हमें दिखाई नहीं देतीं। मनुष्य को अपने ऊपर उतनी ही जिम्मेदारी लेनी चाहिये जितनी वह प्रसन्नता से उठा ले सके।

---

* A happy man or woman is a better thing to meet than a five-pound note.

अप्रसन्नता आध्यात्मिक और शारीरिक दोनों प्रकार की शक्ति की विनाशक है। निराशावादी पुरुष सदा आत्मघात करता रहता है। इसी तरह क्रोधी भी अपनी सारी मानसिक शक्ति का नाश कर डालता है। ऐसे लोगों का शरीर भी रोग-ग्रसित हो जाता है। वे थोड़े ही काल में अपनी जीवन-यात्रा को समाप्त कर देते हैं। निराशा और क्रोध दोनों मनुष्य के विनाशक हैं। इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्रोध का उद्देश्य दूसरों का विनाश करना रहता है और निराशा का आत्म-विनाश। क्रोध ही कुछ काल के बाद निराशा में परिणत हो जाता है।

मनुष्य को चाहिये कि वह अपने आप को सदा ऐसे वातावरण में रखे जिससे उसके मन की प्रसन्नता नष्ट न हो। उसे क्रोधी निराशावादी और परोपकारी पुरुषों से सम्पर्क बढ़ाना चाहिये।

३७

जागरूकता

मनुष्य के मन में अनेक विचार आते रहते हैं। जब तक मनुष्य जागता रहता है, कुछ न कुछ मन में विचार चला करते हैं। इन विचारों में से कुछ बुरे विचार होते हैं कुछ भले। जो मनुष्य सांसारिक क्लेशों से मुक्त होना चाहता है, उसे अपने विचारों के प्रति सजग रहना आवश्यक है। मनुष्य के विचार ही मनुष्य को सुखी और दुःखी बनाते हैं। बुरे विचार कुछ काल के लिये भले ही अच्छे लगें पर अन्त में वे हमें दुःख में ही डालते हैं। भले और बुरे विचारों को देखने के लिये मनुष्य को चेतन बुद्धि रखनी पड़ती है। जिस प्रकार बड़े लोगों के घर में एक दरवाज़े पर पहरेदार खड़ा रहता है जो भले आदमी को मकान के अन्दर जाने देता है और अपरिचित अथवा संदिग्ध चरित्र वाले को घर में नहीं घुसने देता। इसी तरह जागरूक बुद्धि भी उन विचारों को मन के अन्दर नहीं आने देती जो कि अपरिचित हैं अथवा जिनका धर्म मार्ग के अनुसार अन्तिम परिणाम दुख है। वह उन विचारों को मन में जाने देती है जो आध्यात्मिक शान्ति को बढ़ाते हैं और आत्मा के लिये लाभकारी हैं। इस प्रकार की जागरूकता को आत्म-विवेचन की शक्ति भी कहते हैं। जिस व्यक्ति में जागरूकता नहीं, वह बालक ही है। उसके मन में जो विचार चाहें, घुस जाते हैं और वहाँ जाकर जैसा उत्पात मचाना चाहते हैं, मचाते हैं। विचारों के ऊपर प्रभुता पाने की पहली ही सीढ़ी, विचारों

के प्रति सतर्कता है। जिस तरह पहरे वाले मकान के भीतर चोर और ठग लोग घुसने की हिम्मत नहीं करते, इसी तरह जागरूक बुद्धि वाले मनुष्य के मन में बुरे विचार नहीं आते।

जाकरूक बुद्धि का दूसरा नाम साक्षीभाव है। प्रत्येक विचार को एक आगन्तुक के समान समझना चाहिये। संसार के साधारण मनुष्य विचारों से इतना कर देते हैं कि वे अपने में और विचारों में कोई अन्तर ही नहीं देखते। इस स्थिति में वे विचार रूप हो जाते हैं, अर्थात् विचार के धारा प्रवाह में बह जाते हैं। विचार के प्रति यदि हम साक्षी भाव न रखें तो वह हमें कहाँ का कहाँ ले जायगा, इसका कोई ठिकाना नहीं। जब मनुष्य के मन में एक विचार उठता है, तो उसका आना अच्छा लगता है। पर जब इसी विचार को मनमानी करने दिया जाता है तो वह क्लेश रूप बन जाता है। विचारों के प्रति साक्षी विचार न रखने से प्रत्येक मनुष्य शेख़-चिल्ली बन ज़ाता है। जो दो पैसे की कमाई के आधार पर अपनी स्त्री बाल बच्चों की कल्पना कर लेता है और अन्त में उसकी सारी कल्पना दुःख रूप बन जाती है।

मनुष्य के विचार और उसकी बाह्य क्रियाओं में भारी सम्बन्ध है। हमारे प्रत्येक गुप्त विचार एक न एक दिन बाह्य-जगत् में क्रियाओं में प्रकाशित हो सकते हैं। कितने ही रहस्य-मयी घटनाओं के कारण, यही गुप्त विचार होते हैं। गुप्त विचार ही बाह्य पदार्थों में परिणत हो जाते है। मनुष्य के मन में जैसे विचार आते हैं, उन्हीं के अनुसार उसका आचरण हो जाता है। इसको कोई भी व्यक्ति नहीं रोक सकता। यह प्रकृति का अमिट नियम है। एक व्यक्ति जंगल में जाता है, वहाँ वह प्रकृति की सुन्दरता देख कर प्रसन्न हो जाता है; वह उस

अनुभव को भूल जाता है; पर कुछ काल के बाद वह अनुभव एक सुन्दर कविता के रूप में परिणत हो जाते हैं। हम आज महात्मा गान्धी के त्याग और तपस्या पर विचार कर आदर के भाव से भर जाते हैं। इस अनुभव को फिर भूल जाते हैं। पर यही अनुभव हमारी देश भक्ति और त्याग का आधार बन जाता है। इस तरह राष्ट्र की संस्कृति उसके निवासियों के चरित्र और कार्यों की आधार बन जाती है। जिस मनुष्य के मन में जैसे विचार चलते हैं, वह मनुष्य उसी रूप है।

यदि हम देश भक्त बनना चाहते हैं तो देश-द्रोही होने के विचारों को मन में आने से रोकना चाहिये; यदि हम संसार के कल्याण के लिये अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हैं तो हमें हिंसा के विचारों को मन में स्थान न देना होगा। जब मनुष्य एक प्रकार के बुरे विचार को अपने मन में आने देता है तो दूसरे विचार भी अपने साथियों को मन-मन्दिर में उपस्थित देख कर बेधड़क चले आते हैं। एक भी बुरे विचार को मन में ठहरने देना हानिकर है। एक के पीछे अनेक बुरे विचार आते हैं। यूनान के तत्त्ववेत्ता सुकरात का कथन है कि सब सद्गुणों और सब दुर्गुणों में एकता रहती है।

जागरूकता से मनुष्य अपने आपको अपने विचारों से पृथक् जानने लगता है। इस प्रकार का ज्ञान होना आत्म-दर्शन अथवा निर्वाण प्राप्ति की पहली सीढ़ी है। विषय और विषयी की पृथकता का ज्ञान न होना ही सांसारिक दुःख का कारण है। मनुष्य का स्वत्व अनात्मा में उलझा रहता है। जिस तरह साधारण मनुष्य देह से पृथक् आत्मा का कोई विचार नहीं रखते, इसी तरह विचारवान् पुरुष भी अपने आपको विचारों से पृथक् नहीं जानते। विचारों के प्रति जब मनुष्य

साक्षी भाव रखता है तो उसे विचारों से पृथक आत्मा का ज्ञान भी हो जाता है। विचार विषय हैं जिस प्रकार साइकिल, वृक्ष आदि विषय हैं। विचार मन में चलने वाले विषय हैं, घड़ा आदि विचारों की अपेक्षा दूर के विषय हैं। वास्तव में घड़ा आदि भी विचार रूप ही हैं। जब तक कोई भी विषय विचार के रूप में परिणत नहीं हो जाता तब तक उसका हमें ज्ञान ही नहीं होता। मनुष्य वास्तव में विचारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता। पर वह विचार मात्र नहीं है; विचार उसके हैं, वह विचार नहीं। विचार विषय है, वह विषयी है। विचार पदार्थ है, वह ज्ञाता है। विचार जड़ है और आत्मा चैतन्य है। सब विचारों से मुक्त हो जाना यह आत्मा के लिये सम्भव है।

विचारों पर विजय प्राप्त करने के लिये अपने आपको जानना परमावश्यक है। अर्थात् हमें विचारों के प्रति साक्षी भाव व जागरूकता रखना आवश्यक है। जब मनुष्य सभी विचारों के प्रति साक्षी भाव रखता है तो वह विचारों के साथ चलने वाले संवेगों से मुक्त हो जाता है। संवेगों के कारण ही मनुष्य विचारों को अपने वश में नहीं कर पाता। यदि मनुष्य का कोई विचार संवेगरहित हो तो उसे वश में कर लेना कठिन नहीं। जब हम किसी विषय पर देर तक चिन्तन करते रहते हैं तो उस विषय के प्रति हमारी आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से द्वेष की उत्पत्ति होती है। जब मनुष्य राग द्वेष में पड़ जाता है तो उसकी बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। ऐसे मनुष्य को न आध्यात्मिक शान्ति रहती है और न सांसारिक सुख। इस मनोवैज्ञानिक सत्य को भगवान् श्रीकृष्ण ने निम्नलिखित गीता के श्लोकों में दर्शाया है :—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायतेकामः कामात्क्रोधाऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवतिसंमोहः संम्योहात्स्मृति विभ्रमः ।
स्मृति भ्रंशाद बुद्धिनाशो बुद्धि नाशात्प्रणश्यति ॥

जाकरूक मनुष्य अपने आपका नाश होने से आपको बचाता है। वह किसी भी विषय का अधिक देर तक चिन्तन ही नहीं करता। उसका मन बार बार आध्यात्मिक चिन्तन में लग जाता है।

जागरूकता किसी भी मनुष्य को एकाएक नहीं आती। मनुष्य को जागरूकता में अपने आपको शिक्षित करना पड़ता है। जैसा शिक्षा का क्रम सब जगह है, जागरूकता प्राप्त करने में भी वही क्रम काम करता है। शिक्षा में स्थूल पदार्थ का ज्ञान पहले कराया जाता है, पीछे सूक्ष्म बात का ज्ञान कराया जाता है। बालक को स्वावलम्बी बनने के पहले उसे किसी सहारे के द्वारा शिक्षा दी जाती है। आधुनिक काल के इस शिक्षा के नियम को जागरूकता प्राप्त करने में काम में लाया जा सकता है। अतएव मनुष्य को पहले पहल अपने ऊपर विवेचन करने के लिये प्रति दिन एक निश्चित समय रखना चाहिये। इस समय वह अपने गुणों और दोषों पर विचार करे। यदि हो सके तो वह एक आत्मनिरीक्षण की डायरी बना ले। प्रति दिन उसमें अपने सुधार के विषय में लिखे। इस तरह वह अपने आपके विषय में सचेत होने का अभ्यास कर लेगा। इस प्रकार का अभ्यास उसको कुप्रवृत्तियों के रोकने में भारी काम करता है। जब इस प्रकार मनुष्य साधनों के द्वारा आत्मनिरीक्षण में अभ्यस्त हो जाता है तो फिर विना वाह्य साधन के भी

वह अपने आपके प्रति सचेत रहने लगता है। धीरे धीरे उसमें जागरूकता का उदय हो जाता है।

जागरूक मनुष्य को सांसारिक दुःख होना सम्भव नहीं। जो मनुष्य अपने आपके प्रति सजग रहता है उसे दूसरों द्वारा दण्डित होने की आवश्यकता नहीं रहती। जब मनुष्य अपने आपको सुधारता नहीं, तब प्रकृत्ति उसे सुधारती है। जो काम मनुष्य अपने आप कर लेता है, प्रकृति उसे नहीं करती। अपना सुधार अपने आप करने से सुख होता है। जब दूसरे लोग हमारा सुधार करते हैं तो दुख होता। इस व्यावहारिक दृष्टि से भी जागरूकता परमावश्यक है।

३८

उद्योगशीलता

उद्योगशीलता सफलता की जननी है। मनुष्य की संसारिक और आध्यात्मिक उन्नति का आधार उद्योगशीलता है। उद्योग से धन प्राप्त होता है, उसी को यश मिलता है, कीर्ति बढ़ती है और अधिकारों की प्राप्ति होती है। बुद्धि और चरित्र के गुणों का विकास भी उद्योग से ही होता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक सतत् प्रयत्न में लगा रहता है वह उतना ही प्रसन्न चित्त रहता है, दूसरे लोग उससे उतने ही अधिक आकर्षित होते हैं। उस में आत्म-विश्वास पाया जाता है और उसके संपर्क से दूसरे लोगों में भी आशा और आत्म-विश्वास आते हैं।

उद्योगशील मनुष्य अपने काम के बारे में ही चिन्ता करता है, उसे फल की चिन्ता नहीं रहती। फल के लिये अधिक चिन्तित होना काम करने में बाधा डालता है। उस से मनुष्य के चित्त की एकाग्रता नष्ट हो जाती है। जब चित्त की एकाग्रता चली जाती है तो फल का प्राप्त होना भी कठिन होता है। फल के विषय में अधिक उधड़ेबुन करना उसका विनाश करना है। जिस प्रकार भूमि में बीज बोने और उसके अँकुरित होने में समय लगता है इसी प्रकार किसी काम के करने और उसके फलित होने में समय लगता है। बीज जब भूमि के भीतर गाड़ दिया जाता है तभी उसमें अकुँर निकलते हैं और पौधा तैयार

होता है; इसी प्रकार काम कर के काम के फल के विचार को भूल जाने पर फल मिलता है। बलवान और दीर्घजीवी पेड़ों के बीज देर में अँकुरित होते हैं, निर्बल और अल्प आयु पेड़ों के बीज जल्दी ही अँकुरित हो जाते हैं। इसी प्रकार किसी महत्व के काम और सामान्य काम भी अधिक अथवा कम समय फलित होने में लेते हैं।

सदा काम में लगे रहने के लिये इस विचार पर मनन करना आवश्यक है कि मनुष्य का कोई काम व्यर्थ नहीं जाता। कभी-कभी हम किसी काम में असफल हो जाते हैं। इसका कारण प्रायः लगन की कमी ही होती है। आधे मन से किया गया काम मनुष्य को कभी सफलता नहीं देता। पर लगन के साथ किये गये काम में असफलता मिलना हानिकर नहीं। इस प्रकार की असफलता आगे चलकर जीवन की अनेक सफलताओं का आधार बनती है। किसी प्रकार के काम का अनुभव जीवन में काम में आता है। जो मनुष्य असफलता से डरते रहते हैं वे कभी भी जीवन में सफल नहीं होते। उनकी सफलता भी उन्हें असफलता के समान हो जाती है।

किसी भी काम के दो प्रकार के परिणाम होते हैं, एक बाहरी और दूसरे भीतरी। काम का बाहरी परिणाम सांसारिक सुख वैभव आदि की प्राप्ति है, उसका आन्तरिक परिणाम अपनी योग्यता की वृद्धि और चरित्र का विकास है। जो विद्यार्थी पूरा परिश्रम करने पर भी पहली श्रेणी में उत्तीर्ण नहीं होता वह कम परिश्रम करके प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थी से सब प्रकार से अच्छा है। यदि वह अपने परीक्षा फल से निराश हो कर मानसिक शक्ति को व्यर्थ आत्मविडम्बना में नहीं खोता तो वह अवश्य ही जीवन में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण

होने वाले विद्यार्थी से अधिक सफल होगा। उसको अभ्यास हरएक काम में उसकी सहायता करेगा। काम करने से काम करने की आदत पड़ती है, यही उसका सब से अधिक मौलिक लाभ है। जो मनुष्य सदा काम में लगा रहता है उसे वे चिन्तायें भय और सन्देह त्रास नहीं देते जो निकम्मे मनुष्य को देते हैं। इन के न होने से उसकी मानसिक शक्ति व्यर्थ खर्च नहीं होती। वह प्रतिक्षण बढ़ती ही रहती है। यही शक्ति उसे आगे चल कर बड़ा बनाती है।

काम मनुष्य में विशेष प्रकार की योग्यता भी उत्पन्न करता है। जैसा हमारा काम होता है वैसी हमारी योग्यता होती है। बढ़ई का काम करने से बढ़ईगिरी की योग्यता आती है, खेत का काम करने से किसानी की, और प्रतिदिन लिखने से लेखक की योग्यता आती है। किसी प्रकार की योग्यता व्यर्थ नहीं जाती। योग्यता का रखना ही मौलिक सम्पत्ति का रखना है। जगत का यह आध्यात्मिक नियम है कि मनुष्य अपनी योग्यता के अनुसार व्यवसाय पा ही लेता है। इमारती लकड़ी, गढ़ा हुआ पत्थर रास्ते पर, पड़े नहीं दिखाई देते। उन्हें कोई न कोई उठा ही ले जाता है और उचित स्थान पर उन्हें लगा देता है। यदि कोई दरिद्र मनुष्य गाड़े हुए पत्थर को उठा कर अपनी झोंपड़ी में रख ले तो वह अधिक दिन तक वहाँ न ठहरेगा, वह थोड़े ही समय में किसी धनी मनुष्य की कोठी का अँग बन जायेगा। इसी प्रकार योग्य मनुष्य संसार में बेकार नहीं बैठे रहते। संसार के दूसरे लोग इनकी खोज में रहते हैं और जब वे मिल जाते हैं तो उन्हें आदर के साथ बुलाते और उन्हें योग्य काम देते हैं। यदि मनुष्य किसी काम में अभ्यस्त है और उस काम को नहीं छोड़ना चाहता तो उसे

शीघ्र ही उचित व्यवसाय मिल जाता है। इस के लिए केवल आत्म-विश्वास की आवश्यकता है। यह आत्म-विश्वास उस काम को करते रहने से ही उत्पन्न होता है। आत्म-विश्वास उधार लेने की वस्तु नहीं, वह कठिन तपस्या से कमाया जाता है। काम करने से आत्मविश्वास बढ़ता है और निकम्मे रहने से उसका विनाश होता है। इसलिये ही कहा गया है कि बैठे से बेगार भली।

उद्योगशील मनुष्य का मन शुद्ध होता है। जब मनुष्य निकम्मा रहता है तभी उसके मन में काम, क्रोध जनित अनेक प्रकार की दुर्भावनायें आती हैं। उद्योगशील मनुष्य में ईर्ष्या और आत्मभर्त्सना के भाव प्रबल नहीं होते। उद्योग मनुष्य के अहंकार को नियन्त्रित रखता है। जब मनुष्य पूरे मन से किसी काम में लग जाता है तो वह अपने आपका भाव भूल जाता है। पूरे मन से काम करना समाधि की स्थिति प्राप्त करना है। वास्तव में जब मनुष्य अपनत्व के भाव को भूल जाता है तभी किसी चमत्कारिक कार्य करने में समर्थ होता है।

उद्योगशील मनुष्य को अनायास सहायता मिल जाती है। अंग्रेजी में कहावत है कि परमात्मा उन्हीं लोगों की सहायता करता है जो स्वयं अपनी सहायता करते हैं। निकम्मे मनुष्य की सहायता न तो मनुष्य करते हैं और न देवता ही। जो मनुष्य अपनी सफलता के लिये दूसरों पर आश्रित रहता है वह कभी भी जीवन में सफल नहीं होता। सभी लोगों को सफलता अपने प्रयत्न से मिलती है। यह प्रयत्न मनुष्य में आत्म-विश्वास उत्पन्न करता है। दूसरे लोग इस आत्म-विश्वास के अनुसार ही किसी मनुष्य के प्रति आचरण करते हैं। जिसे अपनी सफलता में विश्वास है उसे सभी लोग सहायता करने

के लिये तैयार रहते हैं, जिसे यह विश्वास नहीं रहता उसे सहायता कहीं से नहीं मिलती। आत्मा की अनुकूलता ही जगत् की अनुकूलता के रूप में प्रतिबिम्ब के समान दिखाई देती है। इस प्रसंग में जातक की बोधि सत्व की उद्योगशीलता की निम्नलिखित कथा उल्लेखनीय है।

एक बार बोधिसत्व व्यापार करने दूसरे देश को समुद्र से होकर जा रहे थे। मार्ग में एक भारी तूफान आया और उसके कारण नाव में छेद हो गया। इस छेद से पानी नाव में तेजी से आने लगा। नाव में बैठे सभी यात्रियों ने सोचा कि अब मरना निश्चित है, अतएव निराश होकर डूबने की बात सोचने लगे। बोधिसत्व इसी बीच तेल के पीपों के पास गये और उन्होंने बहुतसा तेल अपने शरीर पर लगा लिया और कुछ तेल पी लिया। जब नाव डूबी तो सब लोग उसके साथ डूब गये, पर बोधिसत्व तैरने लगे। वे समुद्र को पार करने का प्रयत्न करने लगे। सात दिन तक वे इसी प्रकार तैरते रहे। उनके इस प्रयत्न को देख कर जल देवी मधुमेखला उनसे प्रसन्न हो गई। वह उनके समीप आई और उनसे कहने लगी कि तुम क्यों तैर रहे हो। बोधिसत्व ने कहा कि मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने प्रयत्न को कभी भी न छोड़े। मैं अपने प्राण बचाने का प्रयत्न कर रहा हूँ। मधुमेखला ने कहा कि ऐसे प्रयत्न से लाभ ही क्या जिसका फल कुछ भी न हो। बोधिसत्व ने उत्तर दिया कि मेरे साथियों ने प्रयत्न नहीं किया, अतएव वे सभी डूबकर मर गये। सम्भव है कि प्रयत्न करने पर भी मैं उन्हीं के समान मर जाऊँ। पर मैंने मरने के पूर्व आपके दर्शन कर लिये, यह सन्तोष तो मुझे रहेगा। इस उत्तर से मधु मेखला सन्तुष्ट हो गई और उन्हें पानी से उठा लिया। उन्हें उसने एक ऐसे स्थान पर छोड़

दिया जहाँ विशेष जिन्ह वाले व्यक्ति को राजा होने के लिये खोजा जा रहा था। इनमें वे चिन्ह पाये गये और वे उस देश के राजा हो गये।

प्रताप, शिवाजी, स्वामी दयानन्द, तिलक और महात्मा गाँधी ने अपने जीवन में जो कुछ सफलता प्राप्त की हैं, अपनी उद्योग शीलता के कारण ही प्राप्त की। उद्योगशील व्यक्ति को देखकर दूसरे लोग भी उद्योगशील हो जाते हैं। स्वास्थ और रोग दोनों ही संक्रामक हैं। इसी प्रकार मनुष्म के सद्गुण और दुर्गुण भी संक्रामक होते हैं। सद्गुणी मनुष्य अपने आचरण से समाज में सद्गुणों को फैलाता है और दुर्गुणी मनुष्य दुर्गुणों को। उद्योगशील मनुष्य यदि किसी दूसरे व्यक्ति की कोई प्रत्यक्ष सेवा नहीं करता और अपने काम में ही लगा रहता है तो भी वह दूसरे लोगों की अमूल्य अप्रत्यक्ष सेवा करता है। वह दुःखी लोगों को सुखी होने का और असफल व्यक्तियों को सफल होने का मार्ग प्रदर्शित करता है। वह उनमें आत्म-विश्वास उत्पन्न करता है। वे सोचने लगते हैं कि जिस प्रकार उनका साथी सतत् प्रयत्न से सफल हो गया वे भी अपने सतत् प्रयत्न से सफल हो सकते हैं। दूसरों की सब से बड़ी सेवा उन्हें धन देना अथवा विद्या देना नहीं, वरन् उनमें यह आत्म-विश्वास उत्पन्न करना है कि वे अपने प्रयत्न से जीवन संग्राम में सफल हो सकते हैं।

उद्योगशीलता एक प्रकार की तपस्या है। जब मनुष्य में भोग की इच्छा प्रबल होती है तो उसकी उद्योगशीलता नष्ट हो जाती है। जैसे मनुष्य के विचार होते हैं उसकी क्रियायें भी उसी प्रकार की हो जाती हैं। उद्योगशील मनुष्य को अनेक प्रकार के कामों की ही कल्पनायें अपने मन में लाना

चाहिये। ये कल्पनायें उसके आचरण में प्रकाशित होने लगती हैं। जब मनुष्य काम की कल्पनायें मन में न लाकर उन के फल की कल्पनायें मन में लाने लगता है तो उस के मन में अनेक प्रकार की शंकायें उत्पन्न होने लगती हैं और उसकी उद्योग-शीलता नष्ट हो जाती है। उद्योग में लगे रहने के लिए मन में उद्योग के विचार ही लाते रहना आवश्यक है। उद्योग से संसारिक सफलता प्राप्तभले ही न हो, पर उस से आत्म-सुधार और आत्मोन्नति अवश्य होती है। दुनिया का सबसे बड़ा लाभ चरित्र का लाभ है और यह उद्योगशील व्यक्ति को ही प्राप्त होता है।

३६

शान्त विचारों की शक्ति

हमारे मन में दो प्रकार के विचार आते हैं—एक तो उद्वेग-युक्त और दूसरे शान्त। भय, क्रोध, शोक और लोभ आदि मनोवेगों से पूरित विचार उद्वेगयुक्त विचार हैं; जिन विचारों में मानसिक उद्वेगों का अभाव रहता है उन्हें शान्त विचार कहा जाता है। हम साधारणतः वि चारों के बल को उनसे सम्बन्धित उद्वग से ही मापते हैं। जब हम देखते हैं कि कोई व्यक्ति क्रोध में आकर कोई बात कह रहा है तो हम समझते हैं कि वह अवश्य ही कुछ कर दिखावेगा। पर क्रोधातुर व्यक्ति से उतना अधिक डरने का कारण नहीं, जितना कि शान्त मन के व्यक्ति से डरने का कारण है। भावावेश में आने वाले लोगों के निश्चय सदा डमाडोल रहते हैं। भावों पर विजय प्राप्त करने वाले व्यक्ति का निश्चय स्थिर रहता है। वह जिस लगन में लग जाता है उसे पूरा करके दिखाता है।

उद्वेगपूर्ण विचार वैयक्तिक होते हैं; उनकी मानसिक शक्ति वैयक्तिक होती है। शान्त विचार समष्टि मन के विचार हैं; उनकी शक्ति अपरमित होती है। मनुष्य जो निश्चय शान्त मन से करता है उसमें परमात्मा का बल रहता है और उसमें अपने आप को फलित करने की शक्ति होती है हैं। अतः जब कोई व्यक्ति अपने अथवा दूसरों के कल्याण के लिए कोई निश्चय करता है, और अपने निश्चय में अविश्वास नहीं करता तो वह

निश्चय अवश्य फलित होता है। शान्त विचार सृजनात्मक और उद्वेगयुक्त विचार प्रायः विनाशकारी होते हैं। किसी भी प्रकार के विचार में अपने आप फलित होने की शक्ति होती है। पर यह शक्ति सन्देह के कारण नष्ट हो जाती है। जिस मनुष्य के विचारों का हेतु वैयक्तिक सफलता ही होता है उसे तरह-तरह के सन्देह उत्पन्न होते रहते हैं, अतः उसके विचारों की शक्ति नष्ट हो जाती है। जब मनुष्य अपने विचारों के फलित होने के विषय में कोई सन्देह नहीं लाता तो वे विचार स्वतः फलित हो जाते हैं। सन्देह को रोकने के लिए अपनी आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास होना आवश्यक है। जो कार्य ईश्वर में विश्वास, ईश्वरवादी के लिए करता है, प्राकृतिक प्रगति की अनुकूलता का विश्वास जड़वादी के लिए करता है, वही कार्य आध्यात्मिक ज्ञान, अर्थात् अपनी मानसिक शक्तियों का वास्तविक ज्ञान, मनोवैज्ञानिक के लिए करता है।

अपने आप की ही अनुकूलता ही ईश्वर और प्रकृति-प्रगति की अनुकूलता के विश्वास के रूप में मनुष्य की चेतना के समक्ष आते हैं। ये भावनायें अचेतन मन की अनुभूति के प्रतिभास मात्र हैं। मनुष्य अपनी आन्तरिक अनुभूति के अनुसार अनेक प्रकार की कल्पनायें रचता है। इन कल्पनाओं की वास्तविकता उसकी अज्ञात आन्तरिक प्रेरणा पर निर्भर करती है। कल्पनायें वैसी ही होती हैं जैसी उसकी आन्तरिक प्रेरणा होती है। मनुष्य की कल्पनायें ही उसे आशावादी या निराशावादी बनाती हैं। जैसा मन का रुख होता है उसी प्रकार की कल्पनायें मन में आती हैं। ईश्वरवादी विश्वास करता है कि ईश्वर उसे किसी न किसी प्रकार आगे ले जा रहा है जड़वादी सोचता है कि प्रकृति ही उसे आगे ले जा रही है।

प्रगति और अप्रगति के सभी प्रमाण मनुष्य के रुख पर निर्भर करते हैं।

गम्भीर परिस्थितियों में शान्त मन का रहना इस बात का प्रतीक है कि व्यति को किसी भारी शक्ति का सहारा मिल गया है। शान्त मन रहने से प्रतिकूल परिस्थितियाँ थोड़े ही काल में अनुकूल परिस्थितियों में परिणित हो जाती हैं। शान्त विचारों की शक्ति का दूसरे लोगों के मन पर स्थायी पभाव पड़ता है; उद्विग्न मन से कही गई बात का प्रभाव अस्थायी होता है वास्तव में हमारी ही शक्ति दूसरे व्यक्ति की शक्ति के रूप में प्रकाशित होती है। यदि किसी का निश्चय इतना दृढ़ हो कि चाहे जो परिस्थितियाँ आवें उसका निश्चय नहीं बदलेगा तो वह दूसरे लोगों के विचारों को प्रभावित करने में अवश्य ही समर्थ होगा। जिस व्यक्ति की जितनी ही अधिक मानसिक दृढ़ता होती है उसके विचार उतने ही शान्त होते हैं और उनमें दूसरों को प्रभावित करने की शक्ति उतनी ही अधिक होती है।

शान्त विचारों का दूसरे व्यक्तियों पर और वातावरण पर प्रभाव धीरे धीरे होता है। उद्वेगपूर्ण विचारों का प्रभाव तुरन्त होता है। हम तुरन्त होनेवाले प्रभाव से विस्मित हो कर यह सोच बैठते हैं कि शान्त विचार कुछ भी नहीं करते और उद्विग्न पूर्ण विचार ही सब कुछ कर सकते हैं। पर जिस तरह किसी बीज को वृक्ष रूप में परिणित होने के लिए शान्त शक्तियों के काम करने की आवश्यकता है और ये शक्तियाँ अपना काम अदृश्य जगत में करती हैं, इसी तरह किसी संकल्प के फलित होने के लिए शान्त विचारों की आवश्यकता है और उनका कार्य अदृश्य जगत में होता है।

शान्त विचारों से चमत्कारक शारीरिक परिवर्तन हो जाते हैं। लेखक का एक मित्र २० वर्ष का युवक हो चुका था। इस समय तक वह ऊँचाई और मोटाई में १४ वर्ष के बालक जैसा लगता था। उसने किसी शुभचिन्तक के सुझाने पर नियमित रूप से व्यायाम करना शुरू किया। थोड़े ही दिनों में वह चार इञ्च बढ़ गया और उसका शरीर भी पुष्ट हो गया। उसकी समझ थी कि व्यायाम ने उसे बढ़ा दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यायाम से उसे लाभ हुआ। पर उससे भी अधिक लाभ उसके निश्चय से हुआ। इस निश्चय के कारण प्रतिदिन के शान्त विचार उसकी भावना को प्रबल करते गये और इस तरह उसके शरीर में मौलिक परिवर्तन होते गये।

हम जो कुछ सोचते हैं उसका स्थायी प्रभाव हमारे और दूसरों के जीवन पर होता है। शान्त विचार धीरे धीरे हमारे मन की बनावट को ही बदल देते हैं। जैसी हमारे मन की बनावट होती है वैसे ही हमारे कार्य होते हैं और हमारी सफलता भी उसी प्रकार की होती है। हम अनायास ही उन कामों में लग जाते हैं जो हमारी प्रकृति के अनुकूल होते हैं, तथा उन कामों से हम हटते रहते हैं जो हमारी प्रकृति के प्रतिकूल होते हैं। अपने स्वभाव को बदलना हमारे हाथ में है। वह अपने शान्त विचारों के द्वारा बदला जा सकता है। स्वभाव के बदल जाने पर मनुष्य को किसी विशेष प्रकार का काम करना सहज हो जाता है।

जब किसी काम को मनुष्य आन्तरिक मन से नहीं करना चाहता, पर परिस्थितिवश उसे बाध्य होकर करना पड़ता है, तब उसे तरह तरह की रुकावटें उत्पन्न होती हैं। ये बाधायें उसे दर्शाती हैं कि उसका मन उक्त काम के प्रतिकूल है। शान्त

चित्त होकर यदि मनुष्य अपनी किसी प्रकार की भूल अथवा कार्य में विफलता पर विचार करे तो वह इसका कारण अपने आप में ही पावेगा। जो काम शान्त मन हो कर किया जाता है उसकी सफलता में विश्वास रहता है और उसमें सफलता अवश्य ही मिलती है। शान्त मन होकर संकल्प करने से स्मृति तीक्ष्ण हो जाती है और इन्द्रियाँ स्वस्थ हो जाती हैं।

शान्त विचारों का श्रोत चेतन मन नहीं, अचेतन मन है। शान्त विचार ही आत्म-निर्देश की शक्ति है। इन विचारों को प्राप्त करने के लिए वैयक्तिक इच्छाओं का नियन्त्रण करना पड़ता है। जिस व्यक्ति की इच्छाएँ जितनी नियन्त्रित रहती हैं तथा जिस व्यक्ति में जितनी ही विवेक और वैराग्य की अधिकता होती है उसके शान्त विचारों की शक्ति उतनी ही अधिक होती है। जो व्यक्ति अपने मनोभावों के वेगों को रोक लेता है वह उन वेगों की शक्ति को मानसिक शक्ति के रूप में परिणत कर लेता है। इच्छाओं की वृद्धि से इच्छाशक्ति का बल कम होता है और उनके विनाश से उसकी शक्ति बढ़ती है। इच्छाओं की वृद्धि शान्त विचारों का अन्त कर देती है। जिस मनुष्य की इच्छाएँ जिनकी अधिक होती हैं उसके भय, सन्देह और चिन्ताएँ भी उतनी ही अधिक होती हैं। भय, सन्देह अथवा चिन्तायें मनुष्य के आध्यात्मिक शक्ति को नष्ट कर देती है। अतः ऐसे व्यक्ति के संकल्प फलित नहीं होते। वह जो काम हाथ में लेता है उसे पूरे मन से नहीं करता। अधूरा काम अथवा आधे मन से किया गया काम कभी सफलता नहीं लाता। आधे मन से किये गये काम में मनुष्य का चेतन मन कार्य करता है, पर उसका अचेतन मन उसकी सहायता नहीं करता। ऐसी अवस्था में मनुष्य

को शीघ्रता से थकावट आ जाती है और वह अपने काम को अधूर ोड़ने के लिए प्रायः बाध्य हो जाता है।

जिस प्रकार शान्त विचार अपने स्वभाव को बदल देते हैं और अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के मन को प्रभावित करते हैं, इसी प्रकार वे दूर में रहने वाले लोगों के मन को भी प्रभावित करते हैं। एकाग्र चित्त हो कर किसी भी व्यक्ति का चिन्तन करके हम उसके मन का अपने मन से सम्बन्ध जोड़ सकते हैं। ऐसा करने पर हम उससे वही सोचवा सकते हैं जो हम उससे सोचवाना चाहते हैं। किसी व्यक्ति के विषय में नित्य प्रति आने वाले विचार उस व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। वह हमारे विषय में भी वैसा ही सोचने लगता है जैसा हम उसके विषय में सोचते हैं। जितना ही हम इस सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं कि रेडियो की लहरों की तरह विचारों की लहरें दूर दूर के लोगों को प्रभावित करती हैं उतना ही हम अप्रत्यक्ष रूप से अपने विचारों द्वारा दूसरे लोगोंको प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। दूसरे के कल्याण के विचार जितने बली होते हैं, उतने अकल्याण के विचार बली नहीं होते। अतः कल्याण के शान्त विचारों से अवश्य लाभ होता है।

४०

चित्त की एकाग्रता

आधुनिक काल के सर्व साधारण के मन में यह विचार उठता है कि चित्त की एकाग्रता के प्राप्त करने की चेष्टा से लाभ ही है, पर क्या चुप बैठे रह कर किसी एक विषय का ध्यान करते हुए चित्त को एकाग्र करना व्यर्थ समय खोना नहीं है? संसार के कामों में भाग न लेना, जीवन के कर्तव्य और उसके झंझटों से बचने की चेष्टा करना निराशावाद नहीं?

इस प्रश्न का उत्तर देना तो इतना कठिन नहीं है, किन्तु उत्तर से प्रश्नकर्त्ता को सन्तुष्ट करना कठिन है। जब मनुष्य किसी कार्य को करना चाहता है तो प्रतिकूल विचार उसको रोकने में समर्थ नहीं होते। ऐसे विचार मनुष्य को शान्त न करके उसे और भी अस्थिर बनाते हैं। विचार भी वे ही ग्राह्य होते हैं जो हमारी प्रवृत्तियों के अनुकूल होते हैं। इच्छा विचारों को साधारणतः अपना दास बना कर रखती है। किसी विरले ही व्यक्ति के जीवन में विचार की अनुगामिनी इच्छा होती है। अतएव यदि किसी मनुष्य को ऐसी कोई बात समझायी जाय जो उसकी इच्छा के प्रतिकूल हो तो वह उसकी समझ में नहीं आती। थोड़ी देर तक यदि बुद्धि ने उसे ग्रहण भी कर लिया तो पीछे इच्छा उसे बुद्धि में ठहरने नहीं देती।

आधुनिक युग क्रियायुग है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति और सामर्थ्य की परीक्षा करना चाहता है। उसकी

इच्छाएँ बढ़ी हुई हैं। उसके साधारण विचार भी इच्छाओं को तृप्त करने की चेष्टा को भला मानते हैं और उसकी "फिलासफी" भी इच्छाओं को घटाने की नहीं वरन् बढ़ाने की होती है। ऐसी अवस्था में साम्य भाव के लाभ को किसी व्यक्ति को समझाना व्यर्थ है। चित्त-निरोध का एक मात्र परम लाभ इच्छाओं को शान्त करना है। इसे चाहे आशावाद कहा जाय अथवा निराशावाद। एकाग्रचित्त मनुष्य आनन्द अवस्था में रहता है, उसे चित्त की शान्ति रहती है। अतएव उसके मन में वे इच्छाएँ उत्पन्न ही नहीं होतीं जो साधारण मनुष्य के मन में उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार की स्थिति की कल्पना साधारण मनुष्य के मन में आ ही नहीं सकती। वह शान्ति प्राप्त करने का एक ही मार्ग जानता है, वह है—इच्छित विषय के प्राप्त करने की चेष्टा। उसे उस इच्छित वस्तु से शान्ति हो अथवा न हो, उस प्रयास में लगे रहना ही उसे शान्ति देता है।

आधुनिक प्रमुख विचारकों का यही मत है कि हमें सदा प्रयत्न में लगे रहना चाहिये। इसमें ही भलाई है, वस्तु प्राप्त करने में भलाई नहीं; क्योंकि प्राप्त होने पर तो कोई भी वस्तु सन्तोष नहीं दे सकती। सदा काम करते रहना, यही आधुनिक पण्डितों का परम उपदेश है. काम करना ही उन्नति करना है। यही उपदेश हर्बर्ट स्पेंसर, स्टिवेंसन, तथा आधुनिक समाजवादी देते हैं।

इस प्रकार के विचारों के प्रतिकूल कुछ आधुनिक विचारकों ने संसार के लोगों को सलाह अवश्य दी है। उनमें से एक टाल्सटाय हैं। जीवन को सफल बनाने के लिए काम से अपने आप को रोकना उतना ही आवश्यक है जितना कि काम करना। काम करना मात्र उन्नति नहीं है, अपने लक्ष्य की ओर जाना

उन्नति है। पर जिन लोगों को निश्चय नहीं कि जीवन का लक्ष्य क्या है, उनके काम के विषय में उन्नति अवनतिका अर्थ हो ही क्या सकता है? आधुनिक वैज्ञानिक जीवन के लक्ष्य की खोज की चिन्ता नहीं करते। वे इसे व्यर्थ समय खर्च करना समझते हैं। उनका कथन है कि काम करते जाओ, लक्ष्य अपने आप दिखायी देने लगेगा। क्या इस तरह हम काम करके एक पशु के समान ही अपना जीवन व्यतीत नहीं करते? जब लक्ष्य का हमें ज्ञान ही नहीं तो भले और बुरे काम का निर्णायक क्या होगा? हम अपने कामों से संसार की भलाई न कर उसका विध्वंस कर सकते हैं। वर्तमान काल में अविचार-पूर्ण काम करने का परिणाम यही हो रहा है। संसार की भलाई का ऊपरी विचार रख कर जितना नर-संहार हो रहा है और लोगों को भूखों मारा जा रहा है उतना नर-संहार तथा भूखों मरना और किसी कारण से सम्भव नहीं था।

सत्य तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी तृष्णा की पूर्ति में लगा है। यही तृष्णा देशभक्ति, समाज-सेवा आदि के भीतर भरी हुई है। मनुष्य तीन ईषणाओं से प्रेरित होकर ही किसी काम को करता है। ये ईषणाएँ हैं—लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणा। जो काम स्वार्थवश किया जाता है उससे संसार का अहित होना स्वाभाविक है। दूसरे की सेवा करने वाले भी वास्तव में अपनी ही सेवा चाहते हैं। जब तक तीन एषणाओं से मनुष्य मुक्त नहीं, उसका निःस्वार्थ काम करना कैसे सम्भव है। अपने स्वार्थ को छिपाने के लिए और अपने आपको धोखा देने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के ढोंग रचता है। उसे आत्म-ज्ञान रहता नहीं और न उसकी वह खोज करता है। अतएव अपने मन में बैठे शत्रु की पहिचान वह नहीं कर पाता। यह

आत्मज्ञान तभी हो सकता है जब उसके लिए मनुष्य प्रयत्न करे, अर्थात् वह कुछ समय के लिए काम करना छोड़ कर आत्मनिरीक्षण के लिए भी समय निकाले।

मनुष्य काम में ही सदा क्यों लगा रहना चाहता है? इसका प्रमुख कारण यही है कि वह अपने आप एकान्त में रह नहीं सकता। यदि उसे बिना काम का छोड़ दिया जाय तो सम्भवतः वह आत्महत्या कर बैठे। उसके अन्दर एक भयानक अशान्ति सब समय वर्तमान रहती है। इसी अशान्ति को भूलने के लिए मनुष्य किसी न किसी काम की खोज करता है।

पर यह मन की अस्वस्थ अवस्था है। ऐसी अवस्था में जो काम किया जाता है वह एक प्रकार में विक्षिप्त मनुष्य का काम है। विक्षिप्तता में किया गया काम अपना और दूसरों का कल्याण कैसे कर सकता है? इस प्रकार के काम में लगे रहने से थोड़ी देर के लिए मनुष्य अपने मनकी अशान्ति को भूल जाता है, पर ज्यों ही वह काम को छोड़ता है फिर अशान्ति का भूत उस के सिर पर सवार हो जाता है। जब मनुष्य के हृदय की अशान्ति अधिक बढ़ जाती है तो वह उसे शान्त करने के लिए साधारण काम न करके असाधारण काम करता है। इसके परिणाम स्वरूप संसार के दूसरे लोगों का भारी अकल्याण होता है। जो मनुष्य स्वयं अशांत है वह अपने आचरण से दूसरों को शांति कैसे प्रदान कर सकता है? वह तो दूसरों की अशांति ही बढ़ायेगा और उन्हें कष्ट ही पहुँचायेगा। इस तरह हम देखते हैं कि संसार के बड़े बड़े वैज्ञानिक तथा समाज में क्रांति करने वाले नेता समाज के दुःख को ही बढ़ाते हैं। वे मनुष्य को स्थायी सुख न देकर उनके दुःख को और भी बढ़ा देते हैं। दूसरों को शांति उसी व्यक्ति से मिल सकती है

जिसने उस शांति को स्वयं प्राप्त किया है। जिसमें स्वयं पूर्णता है वही दूसरों को उसे प्रदान कर सकता है।

चित्तनिरोध इस शांति को प्राप्त करने का यत्न है। यह आत्मोद्धार और समाजोद्धार दोनों की एकमात्र कुञ्जी है। जब तक मनुष्य का मन स्वच्छ नहीं, वह सत्य के सच्चे रूप को पहिचान नहीं सकता। राग द्वेष से भरा मन उसी बात में सत्य देखता है जो उसके पुराने संस्कारों तथा इच्छाओं के अनुसार है। विपरीत पक्ष में सचाई उसे कदापि प्रतीत नहीं होती। ऐसी अवस्था में उसे सदा अपने दृष्टिकोण को मनवाने के लिये दूसरों को विवश करना पड़ेगा। अनेक युद्ध ऐसे ही आरम्भ होते हैं। कितने लोकोपकार के लिये किये गये युद्ध अपने छिपे स्वार्थों की पूर्तिमात्र होते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति का ही परिणाम निराशावाद है।

जब मनुष्य अपने मन को शांति करने की चेष्टा करता है तो उसे अपने मनके अनेक कुसंस्कारों का सामना करना पड़ता है। उसकी इच्छाएँ और रागद्वेष के संस्कार उसके चित्त को स्थिर होने नहीं देते। मन को स्थिर करने के लिए पहिले अपनी इच्छाओं को घटाना तथा पुराने संस्कारों को मिटाना पड़ता है। इस प्रयत्न में मनुष्य को जो अपने आपका परिचय होता है वह दूसरे किसी प्रकार होना संभव नहीं। ज्योंही हम एक इच्छा को मन से हटाते हैं, झट दूसरी सामने आ जाती है। ज्यों-ज्यों हम उनको हटाते जाते हैं दूसरी और भी आती जाती हैं इस प्रकार के प्रयत्न से ही मनुष्य अपने आपका परिचय पाता है। योग्य पुरुष यह समझ सकता है कि मनुष्य कितना स्वार्थी प्राणी है और उसका हृदय दूसरों के प्रति कितने बुरे भावनाओं से भरा हुआ है।

इच्छाओं का नाश करने के लिए मनुष्य को वैराग्य भावना का अभ्यास करना पड़ता है और द्वेष को जीतने लिए मैत्री-भावना का। मन के बुरे संस्कारों के मिटाने के लिए शुभ संस्कारों को दृढ़ करना पड़ता है। इस प्रकार जब मनुष्य का मन निर्मल होता है और उसकी इच्छाएँ उसे विक्षिप्त जैसा नहीं बनाये रहतीं तो उसकी बुद्धि मोहरहित हो जाती है, उसका आवरण उठ जाता है और वह सत्य की परख ठीक तरह से कर सकती है। वह अपने और दूसरों के कार्यों के गुणदोष को जानने की क्षमता प्राप्त कर लेती है। ऐसा मनुष्य जो कुछ करता है वह भले के लिए होता है। उसका साधारण जीवन-मात्र दूसरों के लिये शिक्षाप्रद हो जाता है।

जब मनुष्य का मन विक्षिप्त अवस्था में रहता है तो उसकी कार्य करने की क्षमता बहुत ही कम होती है। उसे अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग घेरे रहते हैं। मन के शांत होने पर काम करने की क्षमता बढ़ जाती है। वह उसे एक विषय में लगा सकता है। किसी काम को एकाग्रमन हो कर करने से ही उसमें सफलता मिलती है। पर यह एकाग्रता तभी संभव है जब इच्छाओं और कुसंस्कारों की कमी हो। शांत मन से किये गये काम में भूलें कम होती हैं और सफलता अधिक होती है।

किसी भी काम के करने में जब तक हमारा मन हमारा पूरा साथ नहीं देता, उस काम में हमें सफलता नहीं मिलती। यह मन तभी पूरा साथ देता है जब दूसरे विचार निश्चत काम करते समय हमें किसी दूसरी ओर न ले जायँ। मान लीजिए, एक विद्यार्थी अपनी पुस्तक पढ़ रहा है। उसके चेतन मन से वह पुस्तक के शब्द देखता रहता है, पर उसका अचेतन मन

किसी दूसरी बात का चिन्तन करता रहता है। ऐसी अवस्था में उसका पढ़ना व्यर्थ जाता है। इसी तरह यदि हम बाजार जा रहे हैं और हमारे मन में उसी समय हजारों दूसरी बातें भी आ रही हैं तो संभव है कि हम पैसे साथ ले जाना भूल जायँ, जिसके कारण हमें दूर से वापिस आना पड़े। अशांत चित्त से इसी प्रकार की अनेक भूलें हो जाती हैं। मन को एकाग्र करने का यत्न इस प्रकार की अशांति को हटा देता है और हमारे सांसारिक जीवन को भी सफल बनाने में सहायक होता है।

४१

साहस

साहस मनुष्य के चरित्र का सबसे कीमती गुण है। जिस मनुष्य में साहस पाया जाता है उसमें चरित्र के दूसरे सद्गुण भी पाये जाते हैं। साहसी मनुष्य उद्योग शील, संयमी, त्यागी और उदार भी होता है। साहसी मनुष्य में अपनी सफलता में विश्वास रहता है। वह शान्तचित्त होता है। आलसी, विलासी, विषय लोलुप और स्वार्थी मनुष्यों में साहस नहीं पाया जाता। ऐसे लोग कायर होते हैं। सचाई और साहस की सदा सहचारिता रहती है। सच्चा मनुष्य ही साहसी होता है और जिसके मन में साहस है वही जीवन में सच्चा व्यवहार कर सकता है। लम्पट, झूठा मनुष्य कायर होता है। बड़ी बड़ी बातें कहने वाले व्यक्ति में, दूसरों को धोखा देने वाले व्यक्ति में, साहस का अभाव रहता है।

साहस ही मनुष्य के जीवन को सफल बनाता है। किसी कठिन परिस्थिति में पड़ जाने पर जो मनुष्य हिम्मत नहीं हारता वही जीवन संग्राम में सफल होता है। जब तक मनुष्य में साहस रहता है उसकी प्रत्युत्पन्न बुद्धि उसकी सहायता करती है, साहस के चले जाने पर मनुष्य की बुद्धि कुंठित हो जाती है। वह भ्रान्त मन होकर कुछ का कुछ करने लगता है। उसकी सफलता भी विफलता में परिणत हो जाती है ' साहसी 'मनुष्य असफलता से निराश नहीं होता, वह अपने लक्ष्य को प्राप्त

करने के लिये बार बार उद्योग करता ही रहता है। ऐसे व्यक्ति से उसके शत्रु डरते हैं और उसे अनायास प्रकृति से सहायता मिल जाती है। जहाँ किसी मित्र के होने की सम्भावना नहीं रहती वहाँ उसे मित्र मिल जाते हैं। जो व्यक्ति अपने आप पर विश्वास करता है उस पर ही दूसरे लोग विश्वास करते हैं। अपनी सफलता में विश्वास करने वाले को सहायता करने वाले भी मिलते हैं, जिसे अपनी सफलता में विश्वास नहीं होता उसको दूसरे लोग भी कोई प्रोत्साहन नहीं देते।

साहस उसी मनुष्य को होता है जिसका आदर्श उच्च है। जिस व्यक्ति का आदर्श जितना ऊँचा होता है उसका साहस भी उतना ही दृढ़ होता है। शिवाजी ने भारतवर्ष को मुसलमानों के अत्याचार से मुक्त करने का दृढ़ निश्चय किया। इस निश्चय के कारण ही उनका साहस अपूर्व हुआ। जब अफजल खां और शायस्ता खां का उन्हें सामना करना पड़ा तो उनका साहस कम न होकर और भी बढ़ गया। उनकी प्रत्युत्पन्न बुद्धि ने उनकी सहायता की और वे इन योद्धाओं को परास्त करने में सफल हुये। जब वे औरंगजेब के चंगुल में फँस कर दिल्ली में कैद हो गये तब भी उनका साहस कम न हुआ। वे कुशलता के साथ दिल्ली से भाग निकले। यदि शिवाजी महाराज अपनी ही वृद्धि के लिये मुसलमानों से लड़ रहे होते तो उक्त कठिन परिस्थितियों में पड़ने पर उनका साहस भंग हो जाता और उनकी बुद्धि बेठिकाने हो जाती। राना प्रताप, मेजनी, वाशिंगटन, राबर्ट ब्रूस, लूथर, लोकमान्य-तिलक और महात्मा गान्धी, सभी के साहस का रहस्य उनके उच्च आदर्शों में ही पाया जाता है।

राबर्ट ब्रूस अपने देश स्काटलैंड को स्वतन्त्र करने

में बार बार विफल हुआ, पर उसने अपना साहस न छोड़ा। जब वह अपने देश के भविष्य के बारे में चिन्ता करते हुए एक गुफा में पड़ा हुआ था उसी समय एक मकड़ी को सात बार अपना जाला लगाने में विफल होते देखा, पर अन्त में आठवीं बार वह सफल हो गई। इस साधारण सी घटना ने उसके विचारों को पलट दिया, निराशावादी विचार अब आशावादी विचारों में परिणत हो गये। उसने सोचा कि जब एक तुच्छ कीड़ा सात बार विफल होने से अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का उद्योग नहीं छोड़ता तो मनुष्य को अपनी एक दो बार की विफलता से कदापि हताश न होना चाहिए, उसे अपने लक्ष्य प्राप्त करने का उद्योग करते रहना चाहिये। इस तरह मकड़ी उसकी गुरु बन गई। स्काटलैंड के लोग आज भी मकड़ी को आदर की दृष्टि से देखते हैं। पर राबर्ट ब्रूस का वास्तविक गुरु उसकी अन्तरात्मा ही था। मनुष्य की अन्तरात्मा जो कुछ कहती है उसके अनुसार ही उसे वातावरण से निर्देश मिलते हैं। इस प्रकार के निर्देश आत्मनिर्देश के आरोपण मात्र हैं। राबर्ट ब्रस अपने देश के लिये अपना सर्वस्व निछावर करने के लिये तैयार था, इसी कारण उसे मकड़ी से भी उत्साहवर्द्धक निर्देश मिला। जिस व्यक्ति के आदर्श ऊँचे नहीं होते उसे वातावरण से भी सन्निर्देश नहीं मिलते।

स्वार्थी मनुष्य का साहस अनेक प्रकार से भंग हो जाता है। किसी काम को जब वह प्रारम्भ करना चाहता है तो उसे कोई असगुन हो जाता है। इससे ही उसका उत्साह भंग हो जाता है। उसके मन में अपने लक्ष्य प्राप्ति के विषय में शंका उत्पन्न हो जाती है यह शंका उसे पूरे मन से किसी भी काम को

नहीं करने देती और इस शंका के कारण ही उसे विफलता मिलती है। कितने ही लोग असगुनों को ही उनके साहस भंग करने अथवा असफल होने का कारण मान बैठते हैं, पर वास्तव में ये असगुन शंकायुक्त मनुष्यों की मानसिक परिस्थिति के आरोपण मात्र हैं। जो मनुष्य जितना ही स्वार्थी होता है उसका मन उतना ही अधिक शंकायुक्त होता है। ऐसे ही व्यक्ति को अनेक प्रकार के असगुन होते रहते हैं। जो लोग अपनी सफलता के विषय में ज्योतिषियों से अधिक पूछताछ करते हैं और उनके आदेश के अनुसार ही अपना कार्य क्रम बनाते हैं वे ही अधिक असफल होते हैं। लक्ष्मण सेन के ज्योतिष के विश्वास ने उसे बंगाल के राज्य से वंचित कर दिया। वह अठारह पठान सवारों का भी सामना न कर सका। हिटलर भी फलित ज्योतिष में अधिक विश्वास करता था। कहा जाता है कि नक्षत्रों की प्रतिकूल दशा के कारण उसने डंकर्क के युद्ध के बाद ब्रिटिश पर हमला नहीं किया। पर उसका ज्योतिष का विश्वास उसे विनाश से न बचा सका। वास्तव में उसकी स्वार्थपरता ने ही उसका विनाश किया। यदि वह केवल उच्च आदर्श से प्रेरित होकर काम करता होता तो उसे अपने कर्तव्य मात्र के ऊपर ध्यान रहता। वह ग्रहैं नक्षत्रों की प्रतिकूलता के कारण किसी भी आवश्यक क्रिया से अपने आपको न रोकता। वास्तव में उसके आन्तरिक मन में ब्रिटेन से लड़ने से भय था; यही भय ग्रह-नक्षत्रों की प्रतिकूलता के रूप में आरोपित होकर प्रकाशित हुआ और इसी भय ने उसे रूस के विरुद्ध युद्ध घोषित करने के लिये बाध्य किया और वही उसको खा गया।

मनुष्य में जब तक वास्तविक साहस रहता है तब तक वह

चुपचाप अपना काम करता जाता है; वह अपने पौरुष की डींग नहीं हाँकता। जब मनुष्य में वास्तविक साहस की कमी हो जाती है तो वह अपनी महानता की डींग मारने लगता है। लौकिक सफलता मनुष्य के अहंकार को बढ़ा देती है। अहंकार के बढ़ने पर मनुष्य में एक ओर वास्तविक साहस की कमी हो जाती है और दूसरी ओर डींग मारने अथवा अपने पुराने कृत्यों की चर्चा करने की आदत बढ़ जाती है। होनहार मनुष्य आगे की बात सोचता है। जो मनुष्य पुरानी स्मृतियों में रमण करने लगता है और अपने पुराने कृत्यों पर अभिमान करने लगता है वह पततोन्मुख हो जाता है।

साहस किसी व्यक्ति का जन्म-जात् गुण नहीं है। चरित्र का कोई भी गुण जन्म-जात् नहीं होता; चरित्र के सभी गुण अभ्यास से आते हैं। अब प्रश्न आता है कि मनुष्य अपने आप को साहसी कैसे बनावे? क्या कोई मनुष्य अपने शक्ति से अधिक काम करने से साहसी बन सकता है? क्या साहसी बनने के लिये अपने आपको किसी भयंकर परिस्थिति में डालने की आवश्यकता है?

उक्त प्रश्नों का मनोवैज्ञानिक उत्तर यही है कि साहस उसके लिये प्रयत्न करने से नहीं आता। साहस की उत्पत्ति के लिये चरित्र की दूसरे बातों की आवश्यकता है। जब ये बातें मनुष्य के चरित्र में आ जाती हैं तो उसमें उसके अनजाने ही साहस आ जाता है। वास्तव में साहस मनुष्य के चेतन मन का गुण नहीं है, यह उसके अचेतन मन का गुण है। साहसी मनुष्य अपने आपको साहसी के रूप में नहीं जानता और जब वह अपने आपको साहसी के रूप में जानने लगता है तो वह साहसी नहीं रहता। अपनी बीरता का

बखान करने वाला व्यक्ति वीर नहीं होता, इसी प्रकार अपने साहस की चर्चा करने वाला व्यक्ति साहसी नहीं होता। साहसी बनने के लिए मनुष्य को अपने आप में अपना कर्तव्य करने की आदत डालनी पड़ती है। साहस इच्छा-शक्ति की दृढ़ता को दर्शाता है। इच्छा-शक्ति आत्मसंयम और सामने आने वाले काम को लगन के साथ करने से दृढ़ होती है। विलासी पुरुष की इच्छा शक्ति निर्बल होती है। इन्द्रियजन्य सुखों की ओर मनुष्य का मन स्वभावतः जाता है। मन को इन्द्रिय सुखों में जाने से रोकने के लिए इच्छा-शक्ति के प्रयत्न की आवश्यकता होती। मन को विषय सुख में जाने से रोकने में जो मनुष्य को प्रयत्न करना पड़ता है उससे ही उसकी इच्छा-शक्ति बलवान होती है। जो व्यक्ति अपने आन्तरिक शत्रुओं के ऊपर विजय प्राप्त कर लेता है वह बाहरी शत्रुओं से भी नहीं डरता। अपने आप पर विजय प्राप्त करना दूसरे पर विजय प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय है। अतएव संयमी मनुष्य ही साहसी होता है।

अपने काम में लगे रहने से साहस की उत्पत्ति होती है। अपने काम में लगे रहने के लिए चित्त की एकाग्रता की आवश्यकता होती है। चित्त की एकाग्रता के प्रयत्न से जो इच्छा-शक्ति की दृढ़ता आती है वह उपवास और व्रत से नहीं आती। जो मनुष्य अपने मन को अपने सामान्य कर्तव्य से विचलित होने से रोक सकता है वह गम्भीर परिस्थितियों में पड़ने पर भी विचलित नहीं होता। उसका अभ्यास ही यहाँ उसकी सहायता करता है। उद्योगशील-तत्पर व्यक्ति ही कठिन परिस्थितियों में साहस नहीं खोता। जैसे जैसे मनुष्य का अनुभव बढ़ता जाता है उसका साहस भी बढ़ता जाता है। पर अनुभव की वृद्धि के लिये सतत् उद्योग में लगा रहना और अपने कर्तव्य

पथ पर डटे रहना आवश्यक है। जो व्यक्ति अपने सामने आने वाले छोटे काम भली प्रकार से करता है वही बड़े काम भी भली प्रकार से कर लेता है। दोनों प्रकार के काम सहज भाव से ही होते हैं।

जिस प्रकार साहस की वृद्धि के लिए आत्मसंयम और काम में लगन की आवश्यकता है, इसी तरह उसके लिए त्याग और सेवा भाव की वृद्धि की भी आवश्यकता है। कितने ही लोग अपने इन्द्रियों के ऊपर नियन्त्रण कर लेते हैं, पर अपने मन को अनेक प्रकार के पदार्थों में फँसाये रहते हैं। जिन व्यक्तियों का मन सदा धन-संग्रह और धन-रक्षा में लगा रहता है वे डरपोक होते हैं। साहसी मनुष्य सदा सभी प्रकार का त्याग करने के लिए रहता है। वह सब प्रकार के वैभव में रहकर भी उनमें अपने मन को नहीं फँसाता। जब मन संसारिक बातों की चिन्ता में फँस जाता है तो उसकी शक्ति अनेक प्रकार के संकल्प विकल्पों और शंकाओं में ही खर्च हो जाती है। ऐसे व्यक्ति में किसी प्रकार का साहस नहीं रहता। साहस उसी व्यक्ति को होता है जिसका मानसिक बल संचित है। मानसिक बल के संचय के लिये सभी संसारिक बातों का मानसिक त्याग आवश्यक है। संसार के पदार्थों का बाहरी त्याग भी वही मनुष्य कर सकता है जो उनका आन्तरिक त्याग कर देता है। मनुष्य की अनेक प्रकार की इच्छाएँ ही भयों का निर्माण करती हैं। जिस व्यक्ति की इच्छाएँ जितनी कम होती है उसके भय भी उतने ही कम होते हैं और उसका साहस भी उतना ही बढ़ा होता है। कबीर ने कहा है :—

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे भुईं धरे, तब बैठे घर माँहिं॥

जो मनुष्य सम्पूर्ण निर्भीकता प्राप्त करना चाहता है उसे अपना सभी कुछ त्याग देना आवश्यक है। ऐसा व्यक्ति मृत्यु से भी नहीं डरता है। फिर उसके साहस का अन्दाज कौन लगा सकता है ?

मनुष्य में त्याग की शक्ति प्रेम से आती है। जिस मनुष्य में जितना ही अधिक दूसरे व्यक्तियों के प्रति प्रेम है वह उतना ही अधिक त्याग कर सकता है। प्रेम ही मनुष्य को निर्भीक बना देता है और उससे अनेक चमत्कारक कार्य अनायास करा लेता है। यह प्रेम विषय-लोलुपता अथवा मोह से भिन्न वस्तु । विषय लोलुप और मोह में फँसे हुए व्यक्ति का मन निर्बल होता है, पर सच्चे प्रेम की उपासना करने वाले व्यक्ति का मन बलवान होता है। सच्चा प्रेम सेवा भाव है। जो व्यक्ति प्राणी मात्र में अपने आपको देखता है, उनके सुख से सुखी और उनके दुःख से दुःखी होता है वही सच्चे प्रेम के रस को जानता है। ऐसा प्रेम बुद्ध भगवान को था, ऐसा प्रेम हजरत-ईशा को था। अतएव वे जन्मभर लोकोपकार के लिये काम करते रहे। हजरत ईशा ने तो मरते समय उन्हीं लोगों के प्रति अपनी शुभ कामना प्रगट की जो उसे मार रहे थे। माता का प्रेम, उसे अपने बालक के लिये सभी कष्ट सहने और त्याग करने के लिये प्रेरित करता है। उसके लिये ये कष्ट और त्याग असह्य नहीं होते। इसी प्रकार देशभक्त अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये हँसते हँसते फाँसी पर लटक जाता है। उसे अपने प्राणों का त्याग सहज हो जाता है। यहाँ प्रेम ही उसे निर्भीक और साहसी बनाता है।

प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी की सेवा कर सकता है। अपने मित्रों और पड़ोसियों की सेवा से प्रारम्भ करके हम

विश्व की सेवा की ओर बढ़ सकते हैं। जब दूसरों की सेवा करना आदत का रूप धारण कर लेता है तो मनुष्य कठिन कामों को उसी प्रकार कर डालता है जिस प्रकार दूसरे लोग सरल कामों को करते हैं। इसी प्रकार दिन प्रति दिन मनुष्य साहसी बनता जाता है। जो जितना ही अपने स्वत्व को समष्टि के स्वत्व से एकत्व करता है वह उतना ही सभी प्रकार के सद्गुणों को अपने चरित्र में वृद्धि करता है।

४२

आरोपण

आरोपण एक व्यापक मानसिक क्रिया है। आरोपण अपने आप होता है, इसे कोई जान बूझ कर नहीं करता। आधुनिक मनोविज्ञान ने इसे मनुष्य के अचेतन मन का व्यापार माना है। आरोपण को आधुनिक मनोविज्ञान में "प्रोजेक्शन" कहते हैं। इस क्रिया को समझने से मनुष्य अनेक प्रकार की व्यावहारिक कठिनाइयों से मुक्त हो जाता है। उसमें दूसरे व्यक्तियों के विलक्षण व्यवहारों को समझने की शक्ति आ जाती है।

आरोपण वह मानसिक क्रिया है जिसके अनुसार मनुष्य अपने दोषों अथवा गुणों को दूसरे व्यक्ति में देखता है। हम प्रायः कुछ लोगों से सुना करते हैं कि अमुक व्यक्ति हम से ईर्ष्या रखते हैं, वे बड़े चुगुल खोर हैं, लालची हैं अथवा व्यभिचारी हैं। उनका इस प्रकार का कथन उन्हीं के अज्ञात मानसिक भावों को व्यक्त करता है। व्यभिचार की मनोवृत्ति या तो व्यभिचार के आचरण में व्यक्त होती है अथवा व्यभिचारियों की निन्दा में। इसी तरह लोभ और ईर्ष्या की मनोवृत्ति या तो धन-संचय और दूसरों को हानि पहुँचाने की चेष्टा में व्यक्त होती है अथवा लोभी और ईर्षालु मनुष्यों की निन्दा में व्यक्त होती है। हमारी किसी प्रकार की अनैतिक भावना जब अपने प्रकाशन का पर्याप्त अवसर नहीं पाती है तो वह दूसरों पर आरोपित होकर प्रकाशित होती है। जिस व्यक्ति की किसी विशेष प्रकार

की भावनाएँ दबी रहती हैं वह अपने चिन्तन का विषय ऐसे व्यक्ति का आचरण ढूँढ़ लेता है जिसमें वे ही भावनाएँ प्रकाशित हैं। इस तरह विकृति मार्ग से हम अपनी दबी हुई भावनाओं को परितृप्त करते हैं। एक बार श्रीकृष्ण जी ने युधिष्ठिर से पूछा कि इस सभा में तुम्हें कोई विशेष प्रकार का दोषी व्यक्ति दिखाई देता है, तो उन्होंने विचार कर के कहा कि इस सभा में कोई दोषी व्यक्ति नहीं है, सभी लोग सज्जन हैं। इसके बाद उन्होंने दुर्योधन से पूछा कि उपस्थित सभा में कोई ऐसा व्यक्ति दिखाई देता है जो सज्जन हो। उन्होंने उत्तर दिया कि सभा में कोई सज्जन नहीं हैं। यह कथा दुर्जन और सज्जन की मनोवृत्तियों को प्रगट करती है। दुर्जन को सब व्यक्ति दुर्जन ही दिखाई देते हैं; सज्जन को सभी सज्जन ही जान पड़ते हैं। दुर्जनता के भाव प्रकाशित हों अथवा अप्रकाशित हों उनमें मौलिक भेद नहीं रहता।

आरोपण की मनोवृत्ति का एक कारण यह है कि मनुष्य अपने आपके दोषों को स्वीकार नहीं करना चाहता। यदि कोई मनुष्य अपने दोषों को पहचान ले तो वे दोष उनके पास ठहरें ही नहीं। प्रत्येक मनुष्य में यह सामर्थ्य है कि वह अपने दोषों को निकाल दे; किन्तु यह निकालना तभी सम्भव हो सकता है जब कि वह अपने दोषों को पहचान ले। जो मनुष्य अपने दोषों को पहचानता ही नहीं, अपितु वह अपने से बाहर देखता है वह उन दोषों से कैसे मुक्त हो सकता है। दोषों का पहचानना मनुष्य में भारी आत्म-ग्लानि उत्पन्न करता है। इस आत्मग्लानि से बचने के लिए ही दूसरों में दोषों का आरोपण किया जाता है, अथवा दोष-दर्शन की मनोवृत्ति उत्पन्न होती है। मनुष्य यह कहकर अपने आपसे सन्तोष करता है कि यदि

मुझ में कोई दोष है तो उससे कहीं अधिक वह दोष दूसरों में भी है। इतना ही नहीं, दूसरों के दोष देखने में उसका मन इतना लगा रहता है कि अपने दोषों को देखने तथा उस पर विचार करने की उसे फुरसत ही नहीं रहती।

प्रायः राजनैतिक क्षेत्रों में देखा जाता है कि प्रत्येक राजनैतिक व्यक्ति अपने प्रतिद्वन्द्वी पर अनेक ऐसे दोषारोपण करता है जो प्रतिद्वन्द्वी कदापि स्वीकार न करेगा। हिन्दू मुसलमानों को और मुसलमान हिन्दुओं को स्वार्थी कहते हैं। कोई भी हिन्दू यह मानने को तैयार न होगा कि हिन्दू मुसलमानों से अधिक अनुदार हैं अथवा उनमें भ्रातृभाव की कमी है। इसी तरह कोई भी मुसलमान हिन्दुओं को मुसलमानों से अधिक उदार मानने में अपनी सम्मति न देगा। वास्तव में हम अपने अवगुणों को दूसरों में आरोपित करते और गुणों को अपनाते हैं। यह कार्य हमारे अनजाने होता है। जानबूझ कर दोषारोपण नहीं किया जाता। दोषारोपण की मनोवृत्ति उन्हीं लोगों में प्रबल होती है जिनमें कि नैतिकता के भावों की प्रबलता होती है। जिन लोगों में कोई दोष प्रकाशित है उनमें दोषारोपण की मनोवृत्ति की उतनी आवश्यकता नहीं रहती। यही कारण है कि यह प्रवृत्ति हिन्दुओं में जितनी है, उतनी मुसलमानों में नहीं है। हिन्दुओं के नैतिक विचार उन चेष्टाओं को करने से रोक देते हैं जो कि मुसलमान करते हैं, किन्तु उनके मन में वे ही भावनायें आती हैं जो कि मुसलमानों के निन्दनीय आचरण के कारण बनती हैं। ये भावनाएँ विकृत रूप से अर्थात् आरोपण की मनोवृत्ति से प्रकाशित होती हैं।

दोषारोपण से मनुष्य को वास्तविक आत्मसंतोष नहीं होता। जो संतोष होता है वह संतोष का आभास मात्र होता

है। वास्तव में आत्म-ग्लानि की स्थिति मिटाने के लिए दोषारोपण होता है। आत्म-ग्लानि चित्त की दुखमयी अवस्था है। जिसका कारण दुखमय हो उसका कार्य सुखदायक कैसे हो सकता है। मनुष्य का मन एक फिल्म के सदृश है और संसार सिनेमा के चित्रपट की तरह है। चित्रपट पर वही प्रकाशित होता है जो फिल्म में है। जिस व्यक्ति के मन में सुन्दर कल्पनाएँ हैं उसको संसार में सौन्दर्य दिखाई पड़ता है और जिसकी कल्पनायें बीभत्स हैं उसको संसार कुरूपता से भरा हुआ दिखाई देता है। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति का संसार अपने मन द्वारा निर्मित होता है। विशेष प्रकार के संसार का निर्मित होना आत्मसाक्षात्कार अथवा पूर्णता प्राप्ति की सीढ़ी है।

जब मनुष्य का मन आरोपण से थक जाता है और क्लान्त हो उठता है तो उसकी मनोवृत्ति अपनी ओर मुड़ती है। उसकी बहिर्मुखता का स्थान अन्तर्मुखता ले लेती है। जब मनुष्य थोड़ा भी अन्तर्मुख होता है तब उसे अपने दोष दिखाई देने लगते हैं। वह अब दोषों को बाहर न देख कर अन्दर देखने लगता है। इस प्रकार संत मनोवृत्ति का उदय होता है। संत कहता है :—

बुरा जो ढूँढ़न मैं चला, बुरा न पाया कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न होय ॥

विचारवान् व्यक्ति उसके ऊपर आनेवाली सभी आपत्तियों की जड़ अपने में ही देखता है॥ वह कभी कभी अपने आपको इतना अवगुण से भरा हुआ पाता है कि अपने आत्मोद्धार की कोई सम्भावना ही नहीं देखता। ऐसी स्थिति में वह किसी

ऐसी सत्ता की कल्पना करता है जो अपनी कृपा से उसे सभी अवगुणों से मुक्त कर दे। इसी प्रकार की मनोवृत्ति में मुक्ति-भावना का उदय होता है। सूरदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ इसी मनोवृत्ति का चित्रण करती हैं:—

प्रभु मेरे अवगुण चित न धरो
समदरसी है नाम तिहारो चाहे तो पार करो।
एक नदिया एक नाल कहावत मैलो नीर भरो
दोऊ मिल जब एक वरण भई सुरसरि नाम परो
इक लोहा पूजा में राखत इक घर वधिक धरो
पारस धातु कुधातु न चितवत, कञ्चन करत खरो॥

सूरदास की उपर्युक्त पंक्तियों में हम आरोपण की मनोवृत्ति अन्त और अध्यास की मनोवृत्ति का आविर्भाव पाते हैं। अध्यास वास्तव में एक प्रकार का आरोपण ही है। दोषों का आरोपण होता है और गुणों का अध्यास। न्यूनता आरोपण के द्वारा प्रकाशित होती है और पूर्णता अध्यास के द्वारा। सन्त अपनी अन्तरात्मा में एक प्रकार की पूर्णता का अनुभव करता है। परन्तु इस पूर्णता का अनुभव अपरोक्ष न होने के कारण वह इसे अपने से भिन्न किसी सत्ता के ऊपर आरोपित करता है। वह इस सत्ता का चिन्तन करता है, ध्यान करता है, उसकी उपासना करता है और अपने अटूट प्रेमके द्वारा उसे प्राप्त करने की चेष्टा करता है। कुछ समयतक वह अपनी और अपने श्रद्धास्पद अथवा प्रेमी के भेद ही में आनन्द की अनुभूति करता है। किन्तु एक समय आता है जब वह अपने अन्दर अपने प्रेमी से ऐक्य प्राप्त करने की इतनी प्रबल इच्छा का अनुभव करता है कि वह

अपने अस्तित्व को मिटा देना चाहता है। स्वामी रामतीर्थ इस प्रकार की अनुभूति के समय कहते हैं:—

न मैं रहूँ न मेरी आरजू रहे।
एक तू हो तू रहे॥

अपने से बाहर किसी पूर्णता की कल्पना करना उसी प्रकार भ्रमात्मक है जिस प्रकार अपने से बाहर दोषों की कल्पना करना। अतएव मनुष्य का मन इस प्रकार की भक्ति भावना से भी ऊब जाता है फिर वह पूर्णता को अपने में खोजने की चेष्टा नहीं करता। इस मानसिक स्थिति में महात्मा कबीर लिखते हैं:—

मृगनाभी कस्तूरी बसै मूरख हृदय न सूझ।
तेरा साहब तुझ में बसे बूझ सकै तो बूझ॥

इसी ज्ञान की मनोवृत्ति में निर्भयराम लिखते हैं:—

अब मोंहि फिर फिर आवत हाँसी,
सुख समूह हो सुख को ढूँढ़ै,
जल में मीन पियासी।
सबही है तो आतम चेतन,
आज अखण्ड अविनाशी
मूरख करै निश्चय न निज स्वरूप को
भाजत मक्का काशी,
निर्भय राम-राम कृपा सै
काटी लख चौरासी॥

उपर्युक्त मनोवाम सभी प्रकार के आरोपण का अन्त दर्शाती है वृत्ति साधक यहाँ पूर्णता को अथवा परमानन्द को अपने में ही प्राप्त करता है। पूर्णता वह प्रकाश है जो मन की सभी प्रकार की फिल्मों को सार्थक बनाता है। यह वह ज्योति है जिसके कारण मनुष्य अपने से बाहर दोषों को देखता है, और जो इस प्रकार के आरोपण का नाश भी करती है। इसीके कारण अध्यास होता है जो मनुष्य के मनसे देवी देवता और ईश्वर की सृष्टि करता है और जिसके ज्ञात हो जाने पर इस प्रकार की कल्पनाओं का अन्त हो जाता है।

जिसने इस सिद्धि को प्राप्त कर लिया है वह अपने शिष्य को आदेश करता है:—

यत् मनसा ना मनुते येना हुर्म नोमतम्
तदेव ब्रह्म त्वम विद्धि, नेदं, यदिदं उपासि ते ॥

जो आरोपण और अध्यास का स्वरूप दर्शाता है वह सभी साधुओं के मनोवृत्तियों में होता है। आत्म-साक्षात्कार होने के लिए इन मानसिक प्रक्रियाओं का होना आवश्यक है। इन्हें हमको कदापि व्यर्थ न मानना चाहिए। नैतिक भावनाओं के प्रबल होने पर आरोपण की मनोवृत्ति का उदय होता है। और नैतिकता की भावनाओं को पार करने पर पूर्णता के प्रति अध्यास होता हैं। नैतिकता संत भावना के नीचे की बात है। संत भावना में अपराधी के प्रति सहानुभूति का भाव रहता है और अपने आप में दीनता का भाव रहता है। इस के प्रतिकूल नैतिक मनोवृत्ति में अहंकार की प्रबलता होती है और दोषों की कठोर समालोचना की मनोवृत्ति रहती है। पूर्णता की अनुभूति में अहंकार और दीन भाव दोनों का लोप हो जाता है।

पूर्णता की प्राप्ति समता का ज्ञान है। पूर्णता में मन को उद्विग्न करनेवाले सभी भावों का अन्त हो जाता है। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि जब तक मनुष्य किसी प्रकार की साधना करता है अर्थात् पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा करता है तब तक उसमें आरोपण और अध्यास की मनोवृत्ति रहती है। यह मनोवृत्ति उस की पूर्णता की इच्छा को व्यक्त करती है। अपूर्णता में पूर्णता की भावना करना आरोपण की मनोवृत्ति को उत्पन्न करता है और आत्मा से पृथक किसी पदार्थ में पूर्णता की भावना करना अध्यास की मनोवृत्ति को दर्शाता है। आरोपण से लड़ाई-झगड़े, दुःख-दारिद्र उत्पन्न होते हैं और अध्यास से मनमें श्रद्धा भाव की वृद्धि होती है, तथा धार्मिक भावनायें जागृत होती हैं। इन भावनाओं की उत्पत्ति होना आत्म-साक्षात्कार अथवा आत्मा की अपरोक्ष अनुभूति की आवश्यक सीढ़ी है।

इस तरह हम देखते है कि प्रकृति ही स्वतः हमें पूर्णता की अनुभूति अथवा आत्म-साक्षात्कार की ओर ले जा रही है। हमारे अचेतन मन की क्रियायें इसी ओर अग्रसर हैं। इन क्रियाओं का ज्ञान आत्म-साक्षात्कार को सुलभ कर देता है।

४२

प्राकृतिक प्रतिकार

भौतिक जगत् का अमिट नियम है कि प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया हो। इस नियम का प्रतिवाद कदापि नहीं होता—क्रिया और प्रतिक्रिया बराबर और विरोधी होती हैं। यही नियम मानसिक जगत् में भी कार्य्य करता है। वास्तव में मानसिक जगत् और भौतिक जगत् का आधार एक ही है। जो भौतिक जगत् की क्रियाओं का साक्षी और नियन्ता है, वही मानसिक जगत् का साक्षी और नियन्ता है। जिस प्रकार भौतिक जगत् के परे मन की क्रियाओं का आधारभूत नित्य तत्त्व है, उसी प्रकार मानसिक जगत् के परे मनकी क्रियाओंका आधार नित्य तत्व है, जो अविकारी है। साक्षी सब क्रियाओं से अलिप्त पर सबका देखनेवाला है। हमारी साधारण बुद्धि क्रिया को देखती है, वह उस क्रिया की सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं को नहीं देखती। भौतिक जगत् तथा मानसिक जगत् की सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं का ज्ञान कुशाग्र बुद्धि से ही किया जा सकता है। इसी तरह मनुष्य की साधारण बुद्धि किसी भयंकर प्रतिक्रिया के सूक्ष्म कारण नहीं जानती। अतएव कई एक ऐसी घटनाएँ अकारण मान ली जाती हैं।

व्यावहारिक जगत् में देखा जाता है कि यदि हम किसी व्यक्ति की भलाई करें, तो साधारणतः वह भी हमारी भलाई करने का चेष्टा करता है और यदि हम उसकी बुराई करें, तो वह

भी हमारी बुराई करने की चेष्टा करता है। सद्भावना का प्रतिकार सद्भावना में मिलता है और दुर्भावना का दुर्भावना में। प्रेम-स्पर्श का बदला प्रेम-स्पर्श में और धक्के का बदला धक्के में मिलता है। अतएव व्यावहारिक कुशलता रखनेवाले व्यक्ति अपने आस-पास के लोगों से मित्रता का व्यवहार करते हैं।

एक समय लेखक अपने एक मित्र के साथ एक गाँव में खादी-प्रचार के काम के लिए गया। उस गाँव में एक मकान किराये से लेकर रहने लगा। कुछ काल के बाद एक दूसरे मित्र ने एक सौ संतरे हमें भेजे। लेखक के साथ रहनेवाले मित्र ने दो तीन संतरे हमारे लिए रखकर बाकी सब संतरे पड़ोसियों में बाँट दिये। जब उससे लेखक ने पूछा--आप सब संतरे क्यों बाँटे दे रहे हैं, अपने खाने को कुछ भी क्यों नहीं रखते, तब उन्होंने जवाब दिया कि जब संतरों की नई फसल आयगी, तब हम उन्हें खायँगे, अभी ये संतरे बोये जा रहे हैं, कुछ काल के बाद इनके पेड़ तैयार होंगे और एक की जगह अनेक संतरे मिलेंगे।

वास्तव में समाज में की गई भलाई और बुराई बीज के रूप में काम करती हैं। भलाई से अमृत का वृक्ष तैयार होता है और बुराई से विष-वृक्ष है। लेखक ने एक अपने परिचित व्यक्ति को रास्ते पर किसी व्यक्ति की बाट जोहते पाया और उसकी कुछ सेवा करनी चाही, अतएव उनसे पूछा—"आप किसका इन्तजार कर रहे हैं?" उन्होंने जवाब दिया—"मैं घर जाने के लिए एक रिक्शा की खोज में हूँ।" लेखक तुरन्त अपनी साइकिल पर बैठकर एक रिक्शावाले के पास गया और उसे उनके पास जाने को कहा। रिक्शावाला थोड़ी दूर उस ओर गया,

पर वह यह कहकर कि उसके रिक्शा में कुछ गड़बड़ी है दूसरी ओर चला गया। पीछे वही रिक्शावाला दूसरी सवारियों को रिक्शा में बैठा कर ले जाने लगा। जब लेखकने उससे पूछा, "भाई, तुम्हें जिसके पास मैंने भेजा था उसके पास क्यों नहीं गये?" उसने जवाब दिया, "बाबू साहब जो रिक्शावाला उन्हें जानता होगा, कभी भी उनकी तरफ न जायगा, वे शहर भर घुमा डालेंगे, पर चार आने पैसे मजदूरी देंगे"।

संसार के सभी चतुर मनुष्य अपने यश का ध्यान रखते हैं, अतएव वे किसी की बुराई न करके भलाई ही करते हैं। पर दूसरे की भलाई, बदले का ध्यान रखकर की जा सकती है और उसका ध्यान न रखकर भी की जा सकती है। चतुर मनुष्य पहले प्रकार की भलाई करते हैं और साधु पुरुष दूसरे प्रकार की। पर चतुर मनुष्य कभी कभी स्वार्थवश दूसरों की हानि भी कर बैठता है। उसकी दृष्टि स्वार्थदृष्टि है। जब वह देखता है कि दूसरों की क्षति करने से उसकी क्षति होने की संभावना नहीं, अथवा दूसरा व्यक्ति उससे बदला लेने की सामर्थ्य नहीं रखता, तब वह उसे पीड़ा देने में नहीं हिचकता। इसलिए, चतुर मनुष्य सदा सदाचारी नहीं होता। साधु व्यक्ति किसी अन्याय को इसलिए ही नहीं करता कि वह अन्याय है। वह जानता है कि अन्याय का बुरा परिणाम होता है वह चाहे स्पष्ट दिखाई दे अथवा नहीं। अन्याय करना उसके स्वभाव के प्रतिकूल होता है और भलाई करना उसके स्वभाव का अंग बन जाता है। वह कार्य के बाहरी परिणामों पर इतना विचार नहीं करता, जितना कि उसके आंतरिक

परिणामों पर विचार करता है। अतएव चतुर मनुष्य साधु पुरुषों को मूर्ख समझता है।

इस प्रकार की मनोवृत्ति चतुर मनुष्य में सूक्ष्म बुद्धि की कमी की परिचायक है। वह कार्यों के बाहरी और मानसिक परिणाम का ऐक्य नहीं समझ सकता। बहिर्मुखी दृष्टि क्रिया के बाहरी परिणामों को ही देख सकती है, आंतरिक परिणामों को नहीं देख पाती है। प्रत्येक भला अथवा बुरा कार्य मन के ऊपर अपना विशेष प्रकार का प्रभाव छोड़ जाता है। इस प्रभाव से कोई व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता—चाहे वह उस क्रिया के बाहरी परिणामों से बच जाय। यह प्रभाव पूर्व क्रिया की विरोधी प्रतिक्रिया को पैदा करता है। यदि किसी प्रकार के कुसंस्कार को मिटाने के लिए हम अपने आप ही उसके विरोधी संस्कारों को अपने मन में पैदा करें, तो उक्त प्रकार की प्रतिक्रिया की आवश्यकता न हो अन्यथा इसका होना निश्चित है। प्रत्येक उद्वेग अथवा मनोविकार के पूरक उसके विरोधी मनोविकार होते हैं। एक के आने पर दूसरे प्रकार के मनोविकार अवश्य आते हैं। इसी तरह मन की विषम अवस्था मिटती है। क्रोध का पूरक भय है, लोभ का पूरक निराशा, काम का वैराग्य, मोह का शोक और मद का पूरक दीनता है। एक प्रकार के मनोभाव के आने पर दूसरे प्रकार के मनोभाव अवश्य आते हैं। क्रोध का नाश भय से होता है; लोभ का निराशा से, काम का वैराग्य से, मोह का शोक से और मद का दीनता से। जब हमारे चेतन मन में एक प्रकार के मनोवेग का आविर्भाव होता है, तब हमारे अचेतन मन में उसके विपरीत मनोवेग की तैयारी होने

लगती है। जिस प्रकार किसी विशेष प्रकार की बाह्य परि-स्थिति क्रोध, लोभ, आदि के लिये आवश्यक होती है, उसी प्रकार उनके विपरीत मनोभावों के उठने के लिये योग्य परिस्थिति का निर्माण प्रकृति द्वारा हो जाता है। किसी विशेष प्रकार की परिस्थिति हमारी आध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्त्ति करती है। वास्तविकता परिस्थितियों में नहीं है, वास्त-विकता हमारे आध्यात्मिक जीवन में है। जैसी परिस्थितियाँ हमारे आध्यात्मिक जीवन के लिये आवश्यक होती हैं वे अपने आप निर्मित हो जाती हैं। प्रत्येक क्रिया का प्रतिकार मानसिक जगत् और परिस्थिति दोनों में ही होता है। स्थूल दृष्टि परि-स्थिति में होनेवाले प्रतिकार को ही देखती है, सूक्ष्म दृष्टि मानसिक जगत् तथा बाह्यजगत् दोनों में होनेवाले प्रतिकारों को स्पष्टतः देखती है। मनुष्य को बाहरी दुःख इसलिए ही होते हैं कि उसके आन्तरिक मन में उन दुःखों की तैयारी पहले से ही हो गई है।

दुःख प्रतिकार रूप होते हैं। वे दुर्भावों के परिणाम का नाश करते हैं। दुःख जिन मनोभावों को उठाते हैं, उनके विपरीत मनोभाव उनके आदि कारण हैं। एक रूपवती महिला रोग से त्रस्त होकर शरीर से घृणा करने लगती है; उसे क्षण भर भी उस कुरूप शरीर में रहना भार रूप हो जाता है। यदि इस स्थिति के कारण पर विचार किया जाय तो हम देखेंगे कि वह स्त्री अपने रूप के गर्व में चूर रहती थी, अन्यथा वह इतनी कामुक थी कि उसकी भोग इच्छा का अन्त नहीं था। रोग इस इच्छा से उसे मुक्त करने के लिए आया। वासवदत्ता और उपगुप्त की कथा क्या दर्शाती है? अपने रूप

में मस्त रहने ाली स्त्री, धर्म-अधर्म का कुछ विचार न कर सभी व्यक्तियों को अपनी भोगेच्छा का साधन बनाना चाहती है। वह एक दिन उसी शरीर से घृणा करती है और उसकी क्षणभंगुरता पहचान लेती है। यदि वह अपने आप ही आध्यात्मिक विचार द्वारा शरीर की क्षण-भंगुरता पहचान लेती, तो उसका रूप का अभिमान नष्ट हो जाता और उसकी काम-लिप्सा भी शान्त हो जाती। ऐसी अवस्था में उस बाह्य परिस्थिति की उपस्थिति भी अनावश्यक होती जो अन्यथा हुई। फिर वह किसी व्यक्ति की हत्या का कारण नहीं बनती और उसके हाथ पैर न काटे जाते। यह स्त्री अपने दुष्कर्मों के परिणाम को नहीं देखती थी, पर उपगुप्त उस परिणाम को अपने दिव्य चक्षुओं से देखता था। यह परिणाम उस स्त्री की आत्मा ने ही पैदा किया। वह उसकी आध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्ति मात्र था।

हम अनजाने उन परिस्थितियों से खींचे जाते हैं अथवा परिस्थितियों को अपनी ओर खींचते हैं जिन्हें प्राप्त करने की हमारी मानसिक तैयारी हो चुकी है। चोर धन लेना चाहता है, उसके लिये दण्ड नहीं भोगना चाहता। पर इस प्रकार की इच्छा, उसके आन्तरिक मन की इच्छा नहीं है। यह उसके बाहरी मन की इच्छा है। यदि हम चोर के भीतरी मनको भी जान सकें, तो देखेंगे कि वह चोरी के दण्ड को भी भोगना चाहता है। यह दण्ड भोगने की इच्छा चेतन मन में भय के रूप में प्रगट होती है। भय एक प्रकार की प्रतिइच्छा है जो इच्छा के संस्कारों का निवारण करती है। चेतन मन में उत्पन्न किसी प्रकारका भय अचेतन मन की उसी प्रकार की इच्छा

का परिचायक है। इस सिद्धान्त को चित्त-विश्लेषण-विज्ञान ने भली प्रकार स्थिर किया है। प्रबल कामेच्छा से पीड़ित स्त्री अपने आप पर बलात्कार के स्वप्न देखती है और उसे इस बलात्कार का निराधार भय बना रहता है। मृत्यु के भय से पीड़ित व्यक्ति अपने आन्तरिक मन से मृत्यु का आवाहन करते हैं। चाह सकारात्मक और भय नकारात्मक इच्छा है। दोनों ही फलित होते हैं। जहाँ चाह है वहीं भय है। इस तरह चोर अपने मन से दण्डित होता है।

४४

मानसिक स्वावलम्बन

संसार का विरला ही व्यक्ति मानसिक दृष्टि से स्वावलम्बी होता है, अतएव संसार का विरला ही व्यक्ति सुखी होता है। स्वावलम्बन ही सुख है और परालम्बन ही दुःख है। जो व्यक्ति जितनी दूर तक अपने आप पर निर्भर होने की चेष्टा करता है वह अपने आप को उतना ही सुखी बनाता है। कभी न कभी प्रत्येक बाह्य पदार्थ हमें धोखा देता है। हमारे सम्बन्धी, मित्र और सन्तान से भी हमें धोखा होता है। किसी का हमारे प्रति सदा एकसा भाव नहीं रहता। एक समय हमारा परम प्रिय मित्र हम से उदासीन हो जाता है; हमारे सम्बन्धी हमको भूल जाते हैं और सन्तान भी हमारी इच्छा के विरुद्ध काम करने लगती है। ये घटनायें दुःख का कारण बन जाती हैं।

जिस प्रकार हमारे सांसारिक सम्बन्ध अस्थायी हैं उसी प्रकार धन, यौवन और मान-मर्यादा भी अस्थायी है। धनी मनुष्य निर्धन हो जाता है, यौवन भी एक दिन नष्ट हो जाता है और मान-मर्यादा भी चञ्चल है। ऐसी स्थिति में किसी भी वस्तु का सहारा लेकर रहना अपने आप को दुःख में डालना है। इनके नष्ट होने पर मनुष्य को मानसिक कष्ट होता है, अतएव पहले से ही इन से मन को निर्लिप्त रखना ही बुद्धिमानी है।

मनुष्य का परावलम्बन दो प्रकार का होता है—एक बौद्धिक और दूसरा भावात्मक। बौद्धिक परावलम्बन के कारण मनुष्य

अपने मस्तिष्क से किसी बात को सोचने की चेष्टा नहीं करता। वह सदा किसी धर्म-शास्त्र, महान् व्यक्ति अथवा लोक में प्रचलित मत की शरण लेता है। जो बात पहले से परम्परागत मानी गई है, जिसे बहुत से लोग मानते हैं और जिसे संसार के श्रेष्ठ समझे जाने वाले व्यक्ति ठीक समझते हैं उसे हम भी ठीक समझने लग जाते हैं। हम अपने स्वतन्त्र विचार का विश्वास न कर शास्त्र, लोकमत अथवा प्रसिद्ध व्यक्ति के विचार का अधिक विश्वास करते हैं। इसी प्रकार संसार में अनेक प्रकार के झूठे मत पनपते रहते हैं। सचाई पर चलने वाला और सच कहने वाला विरला ही व्यक्ति अपने समकालीन व्यक्तियों का कृपा-भाजन बनता है। अपने मस्तिष्क से सोचने वाले व्यक्ति की संसार में बड़ी दुर्दशा होती है। यह महात्मा सुकरात, ईशा, लूथर, दयानन्द आदि व्यक्तियों की जीवनियों से स्पष्ट है।

बौद्धिक परावलम्बन से भिन्न भावनात्मक परावलम्बन है। कितने ही लोग बौद्धिक दृष्टि से प्रौढ़ होते हुये भी भावनात्मक दृष्टि से बालक बने रहते हैं। बुड्ढे होने तक वे छोटी छोटी घटनाओं से उद्विग्न मन हो जाते हैं। दूसरे को उपदेश देने में कुशल व्यक्ति कभी कभी बालक जैसा व्यवहार करते हैं। जब तक किसी व्यक्ति का आन्तरिक मन प्रौढ़ नहीं हो जाता उसका बौद्धिक विकास उस के मन में स्थिरता नहीं लाता।

आधुनिक मनोविज्ञान ने मन के दो भाग माने हैं—एक चेतन अर्थात् बाह्य मन और दूसरा अचेतन अर्थात् आन्तरिक मन। मनुष्य के चेतन और अचेतन मन में समीकरण का सम्बन्ध रहता है; अर्थात् जो मानसिक गुण चेतन मन में अत्यधिक प्रकाशित होता है उसका अभाव मनुष्य के अचेतन मन

में रहता है और जिस गुण का अभाव मनुष्य के चेतन मन में देखा जाता है उसकी प्रबलता उसके अचेतन मन में पाई जाती है। इस नियम के अनुसार जिन लोगों के बाह्य जीवन में बौद्धिक व्यवसाय अधिक पाया जाता है उनका भावात्मक जीवन अविकसित और पाशविकता की प्रबल अवस्था में रहता है। ऐसे मनुष्यों के बाह्य और आन्तरिक मन में भारी विरोध रहता है और इसके कारण उनके मन में सदा अन्तर्द्वन्द्व बना रहता है। वे अपने भावात्मक अंग का जितना ही अधिक दमन करते हैं वह उतना ही अधिक प्रबल हो जाता है। ऐसे ही व्यक्तियों को अनेक प्रकार की मानसिक बीमारियाँ होती हैं और विक्षिप्तता आती है। इस प्रकार की मानसिक विषमता का अन्त करने के लिये मनुष्य को अपने चेतन और अचेतन मन में सामञ्जस्य स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक है।

यह सामञ्जस्य एक ओर आन्तरिक मन के भावों को चेतना की सतह पर लाने और उनको चरितार्थ करने से होता है और दूसरी ओर अचेतन मन को चेतन मन के द्वारा सुशिक्षित करने से होता है। किसी भी भाव का चेतना की सतह पर प्रकाशन होने से उसका ह्रास होता है, दमन से उस की शक्ति की वृद्धि होती है। अतएव जिन भावों से मनुष्य का मन उद्विग्न हो रहा है यदि उन्हें चेतना की सतह पर लाया जाय तो मनुष्य की मानसिक उद्विग्नता नष्ट हो जाय। कोई भी मनुष्य तब तक स्वावलम्बी नहीं बन सकता, जब तक उसके भीतरी मन के गुप्त मानसिक विकारों का रेचन नहीं हो जाता। संसार में काम करने से, विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से विभिन्न प्रकार का सम्बन्ध रखने से, इन भावों का रेचन होता है। जब मनुष्य का मन इन विकारों अथवा मानसिक ग्रन्थियों से मुक्त हो

जाता है तभी उसे सत्य का दर्शन होता है। मानसिक विकारों की अवस्था में मनुष्य को असत्य ही सत्य दिखाई देने लगता है। उसका दृष्टिकोण उसकी मानसिक ग्रन्थियों द्वारा प्रभावित होने के कारण वह स्वतन्त्र बुद्धि से सोच नहीं सकता। कभी कभी अपने प्रबल संवेगों के कारण उसे अपने विवेक के प्रतिकूल आचरण करना पड़ता है।

कितने ही लोग व्यभिचार, जुआखोरी, नशा करना, परनिन्दा करना आदि को बुरा समझते हुए भी जब समय आता है तो वे इन आदतों के अनुसार ही आचरण करने लगते हैं। वे इस प्रकार के कार्यों के कारण आत्म-भर्त्सना की अनुभूति भी करते हैं। पर इससे वे अपनी इच्छा शक्ति का और भी निर्बल बना लेते हैं। उनकी बुरी आदतें इस प्रकार और भी प्रबल हो जाती हैं। जब तक ऐसे लोगों की मानसिक ग्रन्थियों का रेचन नहीं हो जाता तब तक उनकी उपर्युक्त आदतें नहीं जातीं। पर यह रेचन का कार्य एक दिन का नहीं है। यह जीवन भर के प्रयास से ही पूर्ण होता है। लेखक का एक विद्वान् मित्र अपनी इच्छा के विरुद्ध ही एक व्यसन में पड़ गया है। वह उसे छोड़ना चाहता है, पर उसके छोड़ते ही उसकी अवस्था विक्षिप्त पुरुष जैसी हो जाती है। उसे अनिद्रा का रोग हो जाता है। यदि वह उस व्यसन को बिलकुल छोड़ दे तो उसे अकारण भय और अनेक प्रकार के शारीरिक रोगों की कल्पनायें सताने लगती हैं। ऐसी अवस्था में धीरे धीरे ही मनुष्य अपने किसी भी व्यसन से मुक्त हो सकता है, चाहे वह कितना ही बुरा क्यों न हो।

पर, यहाँ यह बताना आवश्य है कि किसी भी कमजोरी से मुक्त होने का प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता। जिस प्रकार चेतना की

सतह पर अथवा आचरण में प्रकाशित होने से किसी भी भाव का वेग कम हो जाता है, इसी तरह अभ्यास के द्वारा चेतन मन की भावनायें धीरे धीरे अचेतन मन को प्रभावित करती हैं। कितनी ही मानसिक ग्रन्थियाँ उनके विषय में चर्चा करने और उन पर विचार करने से नष्ट हो जाती हैं। आत्मनिर्देश के द्वारा भी प्रबल मानसिक प्रवृत्तियों में पर्याप्त परिवर्तन हो जाता है। किसी विचार पर बार बार मनन करने से वह आत्म-निर्देश का रूप धारण कर लेता है और हमारे चेतन मन से अचेन मन में चला जाता है। किसी विचार के अचेतन मन तक पहुँचने के लिये यह आवश्यक है कि उस पर अभ्यास केवल अपनी चेतन अवस्था में ही न किया जाय, वरन् अपनी अचेतन अवस्था में भी उस पर अभ्यास किया जाय, अर्थात् वह विचार हमारे मस्तिष्क में स्वप्नावस्था में भी चलता रहे।

सोते समय के विचार मनुष्य के आन्तरिक मन में मौलिक परिवर्तन कर देते हैं। मनुष्य के जीवन में उसी प्रकार का परिवर्तन होने लगता है जिस प्रकार के विचार लेकर वह सोता है। अपने लिये किया गया विचार भी मनुष्य के आन्तरिक जीवन में परिवर्तन करता है। दूसरों के लिये अर्थात् प्रकाशनार्थ, जो विचार मन में लाया जाता है, उससे उतना आत्म-कल्याण नहीं होता, जितना अपने लिये किये गये विचार से होता है। अपने लिये किये गये विचार का ध्येय अपने आपको शिक्षा देना होता है। इससे हमारा आन्तरिक मन सुशिक्षित होता है। प्रकाशनार्थ विचार से हमारा अहंकार बढ़ता है, पर हमारे आन्तरिक मन में परिवर्तन नहा होता।

मनको धीरे धीरे विषयों से खींचकर ज्ञान-विज्ञान में

लगाना अथवा निरावलम्ब छोड़ देना अपने आपको स्वावलम्बी बनाने का सर्वोत्कृष्ट उपाय है। इसके लिये मनुष्य को अपने आपको भुलाना अथवा अहँभाव का विनाश करना आवश्यक है। आनापान-सति का अभ्यास इसके लिये परम उपयोगी है। आनापान-सति का अभ्यास एक ओर हमारे सभी वितर्कों को शान्त कर देता है और दूसरी ओर हमारे मन में ऐसा परिवर्तन कर देता है जिससे हमारे मन में भले विचार ही उठते हैं। भगवान् बुद्ध ने मैत्री भावना, अशुभ-भावना, आनापान-सति और संसार की अनित्यता के विचार का अभ्यास मनुष्य को सांसारिक बंधनो से मुक्त होने के लिये बताया है। इनके द्वारा क्रमशः द्वेष, राग, वितर्क और अहंकार नष्ट होते हैं और हमारा मन साम्यावस्था को प्राप्त करता है। राग, द्वेष, वितर्क और अहंकार मानसिक क्षोभ के जनक हैं। जो इन्हें त्यागने में समर्थ होता है वह निर्वाण की स्थिति, अर्थात् आत्म-स्थिति अथवा स्वावलम्बन प्राप्त करता है।

मानसिक स्वावलम्बन उसी व्यक्ति को प्राप्त हो सकता है जो अपने आपको जानने की चेष्टा करता है और अपने आपको जानकर अपनी सभी ज्ञात और अज्ञात इच्छाओं से मुक्त होने का प्रयत्न करता है। मनुष्य अपनी इच्छाओं के कारण ही दीन, दुःखी और परावलम्बी बना हुआ है। यदि वह इच्छाओं से विमुक्त हो जाय तो न तो उसे किसी प्रकार की कमी की अनुभूति हो, न किसी भय और न शोक की। पर यह कार्य धीरे धीरे होता है। इसके लिये उतावलापन दिखाना अपने आपको भारी गड्ढे में डालना है।

मानसिक स्वावलम्बन प्राप्त करने के लिये मनुष्य को जानबूझ कर कभी कभी एकान्त स्थान का सेवन करना

पड़ता है। जो मनुष्य सदा समाज में रहना चाहता है वह आत्म-निर्भरता को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता। जो व्यक्ति अपने आपमें जितना दुःखी होता है वह समाज में रहने की उतनी ही अधिक अपेक्षा रखता है। पर जो व्यक्ति अपने आप में दुःखी है वह दूसरे लोगों को सुखी कैसे बना सकता है? जिस व्यक्ति को अपने आप में सुधार करने की सब से अधिक आवश्यकता रहती है वही दूसरों का सुधारक बनने की चेष्टा करता है। सामाज की सेवा करने की अत्यधिक इच्छा रखने वाले व्यक्ति को वास्तव में अपने आपकी सेवा करने की सबसे अधिक आवश्यकता है। समाज की सेवा करना भला है, पर उससे भला अपने आपकी सेवा करना है। जो मनुष्य स्वयं दुःखी और अपंग है वह दूसरों की क्या सेवा कर सकता है? दूसरे लोग उसकी सेवा से दुःखी ही होते हैं।

मानसिक स्वावलम्बन प्राप्त करने लिये मौन का अभ्यास भी लाभदायक है। सदा बकवाद करना भी एक प्रकार का मानसिक परालम्बन है। जिन लोगों को बकवाद करने की आदत पड़ जाती है, वे बिना बोले चाले रह नहीं सकते। जिस प्रकार कामी पुरुष बिना विषय भोग के रह नहीं सकते, उसी प्रकार बकवादी पुरुष भी बिना बकवाद के रह नहीं सकता। इस प्रकार वह अपना मानसिक स्वावलम्बन खो देता है। समाज में रह कर सभा से अलग रहना सच्चा मानसिक स्वावलम्बन है। दूसरों की सच्ची सेवा स्वावलम्बित हो कर ही की जा सकती है।

———

४५

मानव स्वभाव की दैविकता

मनुष्य का वास्तविक स्वभाव कैसा है इस विषय में संसार के बड़े-बड़े वैज्ञानिक और तत्ववेत्ताओं ने विचार किया है और उनके मत नानाप्रकार के हैं। हम कभी-कभी दूसरे व्यक्ति को पहचानने का दावा करते हैं। कितने लोग इस बात पर गर्व करते हैं कि वे उड़ती चिड़िया को पहचान लेते हैं, अर्थात् वे किसी मनुष्य को देखते ही उसकी प्रकृति जान लेते हैं। इस प्रकार की डींग मारने की प्रवृत्ति उन्हीं लोगों में होती है, जिन्होंने मनुष्य के स्वभाव पर गम्भीरतापूर्ण विचार नहीं किया। अपने आप के विषय में कुछ भी न जाननेवाले लोग दूसरों के विषय में पूरी जानकारी रखने का दावा करते हैं।

आत्मज्ञान वास्तव में सब से बड़ा ज्ञान है। इस ज्ञान के न होने पर दूसरे ज्ञान शून्य के बराबर हैं। महात्मा सुकरात ने अपने शिष्यों को आदेश दिया कि "अपने आप को जानो"; यही संसार में जन्म लेने का सब से बड़ा काम है। जिसने अपने आप को जानने का प्रयत्न नहीं किया, उसका जीवन ही व्यर्थ है। अपने आप के जानने से संसार की सब समस्याओं की कुञ्जी मिल जाती है। आत्मवित् पुरुष ही समाज की समस्याओं को कुशलतापूर्वक सुलझा सकता है। क्या उचित और क्या अनुचित कार्य है यह बात अपने स्वभाव को समझकर ही बतायी जा सकती है। अपने आप को जानने से हम मनुष्यमात्र को समझ जाते हैं।

मनुष्य के स्वभाव के विषय में दो परस्परविरोधी धारणाएँ हैं। वह अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए ही दूसरों के प्रति प्रेम तथा उदारता दिखाता है। इग्लैण्ड के एक दार्शनिक का कथन है कि 'मनुष्य मनुष्य के लिए भेड़िया है'। यदि मनुष्य को अपनी मनमानी करने दो जाय तो वह अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का बिनाश करने में तनिक भी न हिचकेगा। प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव खूंखार है। इसलिये मनुष्योंने राज्य की व्यवस्था बनायी है, जिससे कि वे आपस में ही एक दूसरे का नाश न कर डालें। राज्य का मुख्य काम मनुष्यों को एक दूसरे का नाश करने से बचाना है। हम दूसरे का नाश इसलिए नहीं करते कि हम उसके प्रतिकार से डरते हैं। जहाँ प्रतिकार का भय नहीं होता, वहाँ मनुष्य अवश्य ही एक दूसरे के नाश के कार्य में लग जाता है।

इस प्रकार के विचार का समर्थन आधुनिक मनोविज्ञान के प्रवर्तक फ्राइड महाशय ने भी किया है। उन्होंने मन की तहोंकी जो खोज की है, उससे उन्हें विदित हुआ कि जहाँ मनुष्य अपने ज्ञात मन से उदार होता है, वहाँ उसके अज्ञात मन में वह स्वार्थी ही रहता है। कभी कभी बाहरी उदारता भीतरी स्वार्थपरायणता के छिपानेमात्र का प्रयत्न रहती है, अर्थात् मनुष्य उदारता का आडम्बर फैलाकर अपने स्वार्थ की सिद्धि करता रहता है। जो व्यक्ति जितना ही आन्तरिक मन में स्वार्थी रहता है, वह संसार में अपने को उतना ही अधिक उदार प्रसिद्ध करने की चेष्टा करता है।

फ्राइड महाशय ने अपने रोगियों का मनोविश्लेषण करके उपर्युक्त सिद्धान्त स्थिर किया है। कितने ही लोग स्त्रियों की समानता की लड़ाई लड़ा करते हैं, कितने ही उनकी सेवा बिना

पुरस्कार पाये किया करते हैं, मानो इस प्रकार की सेवा उनके स्वभाव का अङ्ग हो। वे इस तरह अपने निःस्वार्थ प्रेम का परिचय देते हैं, पर वास्तव में इस प्रकार की सेवा बिल्कुल स्वार्थरहित नहीं होती। जहाँ ऊपरी रूप से निःस्वार्थ प्रेम दर्शाया जाता है भीतरी मनमें कामतृप्ति की वासना छिपी रहती है। फ्राइड महाशय का कथन है कि जहाँ कहीं पुरुष-स्त्री का आकर्षण देखा जाता है, चाहे उसका ऊपरी रूप कितना ही निःस्वार्थ क्यों न हो, भीतरी मन से कामवासना को तृप्ति के लिए ही होता है। कामवासना की तृप्ति कई प्रकार से होती है। उनमें चिन्तन, दर्शन और वार्तालाप भी सम्मिलित है। मनुष्य की कामवासना बड़ी व्यापक है। इसके कारण मनुष्य विपरीतलिङ्गी के प्रति ही आकर्षित नहीं होता, वरन् समलिङ्गी के प्रति भी आकर्षित होता है।

फ्राइड महाशय के अनुसार संसार के सब कामों का मूल-स्रोत सुख की चाह है। परोपकार में भी सुख की ही खोज रहती है। दानी मनुष्य या तो अपनी कीर्ति बढ़ाने के लिए दान देता है अथवा उससे आर्थिक लाभ की आशा रखता है। कितने ही धनी लोग संसार के श्रद्धा-पात्र बनने के लिये दान-पुण्य करते हैं।

जब मनुष्य अपने स्वार्थ की खोज में परोपकार का आडम्बर फैलाता है, तब वह स्वयं यह नहीं जानता कि मैं क्या कर रहा हूँ। मनुष्य का भीतरी मन सदा उसकी नैतिक भावना से डरता रहता है, अतएव उसके समक्ष आने की चेष्टा नहीं करता। इसलिए मनुष्य अपने आप को और संसार को धर्मात्मा जनाते हुए स्वार्थ की खोज करता रहता है। इस तरह उदारता की भावना के द्वारा हमारा मन अपने

आपको बार-बार धोखा देता है। मनुष्य का नैतिक मन अपने आपको पशुओं जैसा विषयासक्त मानने को तैयार नहीं। अतएव जहाँ बाहरी मन एक सिद्धान्त को मानता है, वहाँ भीतरी मन दूसरे सिद्धान्त पर आचरण करता रहता है।

जिस समय भीतरी मन की स्वार्थमयी इच्छाओं का दमन होता है, उस समय वे मनुष्य की अर्द्ध चेतना की अवस्था में तृप्ति पाने की चेष्टा करती हैं। इस तरह स्वप्न संसार की सृष्टि होती है जो कि दबी हुई अतृप्त इच्छाओं की ही करामात होती है। हमारे प्रायः सभी स्वप्न छिपे रूप से सुख की अनेक प्रकार की इच्छाओं को तृप्त करने की चेष्टा करते हैं। जब कोई प्रबल वासना बहुत बुरी तरह से दबा दी जाती है, तब वह स्वप्न में उद्भूत होकर ही नहीं रह जाती वरन् व्यक्ति के चेतन-मन का नियन्त्रण तोड़ देती है। इस अवस्था में अनेक प्रकार के उन्माद उत्पन्न हो जाते हैं। शारीरिक बीमारियाँ, साँकेतिक चेष्टाएँ आदि भी इन्हीं स्वार्थमयी इच्छाओं के परिणाम हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य मूलतः स्वार्थी प्राणी है। जब उसके स्वार्थ पर आघात होता है, तब वह अपना मूल रूप धारण कर लेता है। मनुष्य का विज्ञान उसकी पशुता का न नाश करता है और न वह उसको पूर्णतः नियन्त्रित ही कर सकता है। वह प्रायः स्वयं मनुष्य के पशुस्वभाव की तृप्ति का एक साधन बन जाता है।

कितने ही विद्वान् ऊपर कहे हुए मनुष्य के स्वभाव को उसके वास्तविक स्वभाव का विकृत अथवा विपरीत रूप बताते हैं। यूनान के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में मनुष्य के स्वभाव के विषय में उपर्युक्त धारणा का खण्डन किया है। उसने आर्कीमेकस के मुँह से मनुष्य को पूर्ण स्वार्थी

व्यक्ति कहलाया है। आर्कीमेकस का कथन है कि समाज का सङ्गठन और राज्य की उत्पत्ति स्वार्थी मनुष्यों की इच्छा से हुई है। जो लोग दूसरों से अधिक बली हैं, वे दूसरों से बरबस अपने हित के लिए काम कराते रहना चाहते हैं। इसी प्रयोजन से राज्य का निर्माण होता है और कानून की सृष्टि भी इसी-लिए होती है।

इस सिद्धान्त का खण्डन प्लेटो ने साक्रेटीस के मुँह से कराया है। उसने युक्तियों से सिद्ध किया है कि यदि सभी मनुष्य दूसरों को धोखा देने पर उतारू हो जाँय, तो धोखा देना सम्भव ही न होगा। न्याय की भित्तिपर अन्याय सम्भव है, सत्य की भित्ति पर झूठ और सदाचार की भित्ति पर दुराचार। जब मनुष्य समाज बनाता है, तब प्रत्येक मनुष्य उससे कुछ न कुछ लाभ उठाता है, इसलिए ही वह उस समाज में रहता है। साथ ही उस की यह भी बुद्धि रहती है कि वह दूसरों की सेवा करे। यह अवश्य है कि किसी किसी व्यक्ति में इस सेवाभाव का आधिक्य होता है और किसी में इसकी कमी। जिस मनुष्य का स्वभाव जितना अविकसित है, वह उतना ही अधिक इन्द्रियसुख की ओर दौड़ता है और इसके प्राप्त करने के लिए दूसरों को कष्ट देने को उतारू रहता है। पर जिस व्यक्ति का स्वभाव विकसित हो गया है, वह अपनी तृप्ति विषयसुख से नहीं, वरन् तत्वचिन्तन से पाता है। इसी तरह का मनुष्य राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी होना चाहिए। राज्य की स्थिति का वास्तविक लक्ष्य मनुष्य के स्वभाव का विकास करना ही है। इसके विकसित होने पर मनुष्य का आपसी कलह दूर हो जायगा और वह ज्ञान-विज्ञान

से तृप्त रहेगा। मनुष्य दूसरों की सेवा अपने दैविक स्वभाव से प्रेरित होकर करता है।

फ्रांस के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी तत्त्ववेत्ता रूसो ने भी मनुष्य के स्वभाव को दैविक माना है। मनुष्य का जन्मजात स्वभाव दैविक है, उसमें जो बुराइयाँ आती हैं, वे समाज के सम्पर्क से आती हैं। यदि किसी बालक की शिक्षा भली प्रकार से की जाय, तो वह अपनी दैविक सम्पत्ति को उत्तरोत्तर बढ़ायेगा और अपनी सेवा से संसार को सुखी कर देगा। रूसो की 'इमील' नामक पुस्तक इसी तरह के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है।

हालैण्ड के महान तत्त्वदर्शी स्पिनोजा ने भी मनुष्य के वास्तविक स्वभाव को दैवी बतलाया है। उन का कथन तो उपनिषद् के कथन से मिलता-जुलता है। संसार के अनेक पदार्थों की आत्मा एक ही है। वास्तव में जितना प्रसार हम देखते हैं, वह गुणों का प्रसार है। द्रव्य एक ही है, वही परमात्मा अथवा ईश्वर है। वही सर्वत्र स्थिति और सब पदार्थों को प्राप्त किये हुए है। किसी भी वस्तु का स्वरूप यदि हम जानें तो हमें एक ही तत्त्व मिलेगा। यही तत्त्व मनुष्य का आत्मा है। अतएव प्रत्येक पुरुष वास्तव में ईश्वर ही है।

मनुष्य का स्वभाव पुण्यमय है। जब वह अपने स्वभाव से विचलित होता है, तभी स्वार्थी, दम्भी, कामी, क्रोधी बन जाता है। अपने स्वरूप की ओर जाने से मनुष्य की सब विषयलोलुपता नष्ट हो जाती है।

जर्मनी के सब से बड़े तत्त्ववेत्ता इमैनुअल काण्ट ने भी मनुष्य के स्वभाव को दैवी माना है। यह उसकी विवेक-बुद्धि से प्रमाणित है। मनुष्य का स्वभाव यदि दैवी न होता, तो उसमें विवेकबुद्धि ही न होती और धर्म, अधर्म कर्तव्य-अकर्तव्य का

निर्णय करने की भावना ही मन में न आती। इन भावनाओं का मन में आना ही मनुष्य के दैवी स्वभाव को सिद्ध करता है। उचित व्यवहार दैवी स्वभाव के अनुकूल चलना है और अनुचित व्यवहार उस के प्रतिकूल चलना है। यह स्वभाव हमें स्वार्थी नहीं बनाता, वरन् सब के प्रति एकसा व्यवहार करने के लिए बाध्य करता है। "उसी सिद्धान्त के अनुसार आचरण करो, जिसे तुम सब के आचरण का सिद्धान्त बना सको। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का आदर वैसा ही करो, जैसा तुम अपने व्यक्तित्व का आदर करते हो, दूसरे को अपने सुख का साधनमात्र मत बनाओ।"

इस तरह हम देखते हैं कि काण्ट की शिक्षा मनुष्य को धर्मपरायण और उदार बनाती है। इस शिक्षा का आधार मनुष्य का स्वभाव ही है। अपने स्वभाव के प्रति किसी को अन्याय न करना चाहिए। जो अपने स्वभाव के प्रति अन्याय करता है, वह न आन्तरिक शान्ति का उपभोग कर सकता है, और न उसे बाह्य सफलता ही मिल सकती है।

तत्त्वविज्ञान के उपर्युक्त सिद्धान्तों का समर्थन आधुनिक मनोविज्ञान के कुछ पण्डितों ने भी किया है। इन में होमरलेन और युङ्ग के नाम अग्रगण्य हैं। होमरलेन के कथनानुसार मनुष्य का सच्चा स्वभाव भला है। इस के प्रति अन्याय होने पर ही अनेक प्रकार की मानसिक और शारीरिक बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं। यहाँ होमरलेन और फ्राइड महाशय के सिद्धान्तों में मौलिक भेद है। जहाँ फ्राइड महाशय कहते हैं कि हमारे पाशविक स्वभाव के दमन से उन्माद, व्यक्तिविच्छेद आदि उत्पन्न होते हैं और उस पाशविक स्वभाव के दमन को कम कर देने से ये बीमारियाँ नष्ट हो सकती हैं, वहाँ होमरलेन का कथन ठीक

इस के प्रतिकूल है। बीमारियों की उत्पत्ति होमरलेन के कथना-नुसार दैविक भावनाओं के दमन से ही होती है और जब इन भावनाओं की तृप्ति होने लगती है, तब बीमारियाँ निर्मूल हो जाती हैं।

गत यूरोपीय महायुद्ध के समय बहुत से सैनिकों को लकवे की बीमारी हो गयी थी। फ्राइड महाशय के अनुसार इसका कारण लड़ाई से भय था। एक तरफ सैनिक भय के कारण लड़ाई से बचना चाहते थे और दूसरी ओर उसे कर्तव्यबुद्धि लड़ाई में भाग लेने के लिए प्रेरित करती थी। लकवा की बीमारी ने इस समस्या को हल कर दिया। बीमारी के कारण वे सैनिक लड़ाई में भाग लेने से बच गये और अपनी कर्तव्यबुद्धि को भी सन्तुष्ट कर सके। इस प्रकार की धारणा पर अनेक सैनिकों को फ्राइड महाशय लकवा की बीमारी से अच्छा कर सके। पर कुछ ऐसे बीमार रह गये, जो उन से अच्छे न हो सके। उन्हीं बीमार लोगों को होमरलेन अपने नये सिद्धान्त के ऊपर चल-कर अच्छे कर सके। उन के अनुसार बीमारी उन के दैविक मन और समाज में मान्य भावना के अन्तर्द्वन्द्व से उत्पन्न हुई। उन का हृदय हत्या के काम से बचना चाहता था, अतएव वे लड़ाई में भाग नहीं लेना चाहते थे। यह भय के कारण नहीं, वरन् हत्या का काम उन के दैविक स्वभाव के प्रतिकूल होने के कारण। साथ ही वे अपना सम्मान भी समाज में नहीं खोना चाहते थे। यह समाज उन्हें हत्या के काम में प्रवृत्त कर रहा था। उन की समाजबुद्धि उन्हें उस काम से मुक्त नहीं करती थी। अतएव दैवी मन ने अपनी इच्छातृप्ति के लिए एक उपाय निकाल लिया। उस व्यक्ति को लकवा की बीमारी देकर एक

तरफ हत्या के काम से उसे बचा लिया और दूसरी ओर समाज में प्रतिष्ठा भी न जाने दी। इस तरह कितनी ही बीमारियाँ मनुष्य को अपने दैविक स्वभाव के प्रतिकूल जाने से हो जाती हैं। ये बीमारियाँ उसे कभी कभी मानसिक उलझनों से बचा लेती हैं।

युङ्ग महाशय ने भी उपर्युक्त सिद्धान्त का एक नये तरह से समर्थन किया है। युङ्ग महाशय के अनुसार मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व दो प्रकार के होते हैं—एक उस के वैयक्तिक दृश्य और वैयक्तिक अदृश्य मन का और दूसरा उस के वैयक्तिक अदृश्य और सामूहिक अदृश्य मन का। जब मनुष्य को वैयक्तिक अदृश्य मन की वासनाएँ उस की चेतना के बाहर बार-बार ढकेली जाती हैं और अपनी तृप्ति नहीं पातीं, तब वे अन्तर कलह उत्पन्न कर देती हैं। इस से अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं। इसी तरह मनुष्य जब अपने सामूहिक अदृश्य मन की अवहेलना करते हुए वैयक्तिक इच्छाओं की अन्धाधुन्ध तृप्ति में लग जाता है, तब भी उस के मन में कलह उत्पन्न होता है। उसका दैविक मन क्लान्त हो जाता है और इस आत्मग्लानि को हटाने के लिए अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक बीमारियाँ उपस्थित हो जाती हैं। अपने दैनिक मन के प्रतिकूल चलना वैयक्तिक मन के प्रतिकूल चलने से कहीं अधिक दुःखद परिणाम उत्पन्न करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की नैतिक बुद्धि समाज की देन नहीं, अपितु जन्मजात स्वभाव का अङ्ग है। समाज उसके विकसित होने मात्र का साधन है। फ्राइड महाशय के अनुसार यह मनुष्य के जन्मजात स्वभाव का अङ्ग नहीं, वरन् ऊपर से लादी

हुई वस्तु है, जिसके प्रतिकूल मनुष्य का स्वभाव सदा विद्रोह करता रहता है।

यदि हम फ्राइड महाशय का कहना मानें तो नैतिक जीवन को दुःख का कारण मानना पड़ेगा और यदि येन का कहना मानें तो नैतिक नियमों के उल्लङ्घन को ही दुःख का कारण मानना होगा। हमारा अनुभव किस सिद्धान्त का समर्थक है इस प्रश्न पर प्रत्येक पाठक को विचार करना चाहिए।

४६

मृत्यु का भय

मानव जीवन के विकास के लिए मृत्यु का भय आवश्यक वस्तु है। मृत्यु का भय न रहने पर मनुष्य सांसारिक जीवन से मुक्त होने की चेष्टा ही नहीं करता। वह इन्द्रिय-सुख और सम्पत्ति-संग्रह में इतना लिप्त हो जाता है कि उसे भलाई और बुराई पर विचार करने की फुरसत ही नहीं मिलती। मृत्यु का भय न रहने पर मनुष्य अनेक प्रकार के भीषण कर्म करता है, जिनसे संसार की भारी क्षति होती है। मनुष्य को दुराचार से रोकने के लिये और उसे सदाचार में प्रवृत्त करने के लिये मृत्यु के भय की आवश्यकता है।

मृत्यु का विचार मनुष्य में सत् असत का विवेक उत्पन्न करता है। यदि मनुष्य के मन में मृत्यु का विचार न आवे तो उसे नित्य तत्व के जानने की आवश्यकता ही न हो। मृत्यु ने ही नचिकेता को आत्म-तत्व की पहचान कराई।- उपनिषद् की इस कथा का तात्पर्य यही है कि मृत्यु का विचार ही मनुष्य का सबसे बड़ा आध्यात्मिक विद्या का शिक्षक है। जब तक मनुष्य को मृत्यु का विचार नहीं आता विवेक और वैराग्य की उत्पत्ति नहीं होती और जब तक मनुष्य में वैराग्य की उत्पत्ति नहीं होती उसका आध्यात्मिक विद्याका अध्ययन उसका पाण्डित्य मात्र बढ़ाता है। उसमें वास्तविक ज्ञान की उत्पत्ति नहीं करता। शोपनहावर महाशय के इस कथन में

मौलिक सत्य है कि मृत्यु का विचार ही तत्वज्ञान का जन्मदाता है* । अमरत्व की प्राप्ति करने के लिये नश्वर पदार्थ से विरक्त होने की आवश्यकता है और जब तक मनुष्य को मृत्यु का विचार नहीं आता वह नश्वर पदार्थों से अपना अनुराग नहीं छोड़ता । इसलिये ही संसार के सन्तों ने मनुष्य को बार बार शरीर की नश्वरता और संसार की अनित्यता पर विचार करने को प्रेरित किया है ।

मृत्यु पर विचार करना मृत्यु के भय से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय है । मनुष्य मृत्यु पर विचार नहीं करता इस लिये ही मृत्यु उसे भयभीत करती है । जिस प्रकार भूत की वास्तविकता न जानने के कारण मनुष्य भूत से डरता है, उसी प्रकार मृत्यु की वास्तविकता न जानने के कारण मनुष्य मृत्यु से डरता है । मनुष्य मृत्यु से इतना डरता है कि वह उसके विषय में विचार भी नहीं करना चाहता । वह उसके विषय में अनभिज्ञ रहना चाहता है । पर इस प्रकार वह मृत्यु के भय से मुक्त नहीं होता । वह उसके आन्तरिक मनमें वर्तमान रहता है और किसी समय भी जब उसका मन निर्बल होता है उसे आकर दबाता है । मानसिक अथवा शारीरिक रोग की अवस्था में मनुष्य का मन निर्बल हो जाता है । इस समय मृत्यु का भय उसकी चेतना की सतह पर आ जाता है । जब यह एक बार चेतना की सतह पर आ जाता है तो विचार के द्वारा दबाने से नहीं दबता । यह अनेक प्रकार की अभद्र, भयावनी कल्पनाएँ मन में उत्पन्न करता है जिसके कारण मनुष्य का भारी आन्तरिक पीड़ा होती है ।

---

* The thought of death is the beginning of philosophy Schopenhauer, Selected Essays.

मृत्यु का भय मनुष्य का आन्तरिक मन उत्पन्न करता है। यह आन्तरिक मन की मृत्यु की इच्छा का सूचक है। यह स्वभावतः उत्पन्न होती है। आधुनिक मनोविज्ञान दर्शाता है कि जिस प्रकार मनुष्य के मन में सांसारिक सुखों की इच्छायें हैं, उसी प्रकार उसके मन में इनसे मुक्त होने की, अर्थात् निर्वाण प्राप्ति की इच्छा भी होती है। मृत्यु की इच्छा इसी इच्छा का रूप है। जब यह इच्छा प्रबल होती है तो मनुष्य के चेतन मन में मृत्यु का भय उत्पन्न होता है। किसी भी इच्छा का अचेतन मन में एक रूप होता है और चेतना की सतह पर आने पर उसका दूसरा रूप हो जाता है। दूसरे व्यक्ति के द्वारा पीड़ित होने का भय, वास्तव में आन्तरिक मन की उसके द्वारा पीड़ित होने की इच्छा का प्रतीक है। मनुष्य के चेतन और अचेतन मन के बीच सदा समीकरण का नियम काम करता है। चेतन मन की किसी प्रकार का प्रबल भाव अचेतन मन के विरोधी भाव का सूचक है। यदि किसी मनुष्य के चेतन मन में मृत्यु का भय प्रबल है तो उसके अचेतन मनमें मृत्यु की इच्छा प्रबल होती है।

जब मनुष्य सांसारिक व्यवसायों में अत्यधिक लिप्त हो जाता है तो उसे अपने आपके विषय में विचार की फुरसत नहीं रहती। इससे उसके पास धन-सम्पत्ति का संग्रह हो जाता है, पर अपने भीतर अन्धकार की उत्पत्ति हो जाती है। जो मनुष्य जिस ओर अपनी चेतना को ले जाता है उस ओर उसका प्रकाश होता है और उस ओर उसकी वृद्धि होती है; जिस ओर चेतना का प्रकाश नहीं जाता उस ओर अन्धकार रह जाता है और इसके कारण उस ओर किसी प्रकार की उन्नति नहीं होती। संसारिक वैभव में उन्नत लोग प्रायः आत्मज्ञान से शून्य रहते हैं। उनका मन अवनत दशा में

रह जाता है। इसके कारण उनका आन्तरिक मन दुःखी रहता है। यही दुःखी मन ऐसे उपाय रचता है जिससे मनुष्य अपने सांसारिक वैभव की वृद्धि के विचार को छोड़ कर आध्यात्मिक उन्नति की चिन्ता करने लगे। मृत्यु के भय की उत्पत्ति चेतना के अन्तर्मुखी होने की आवश्यकता का प्रतीक है। जिस प्रकार शिक्षक उद्दण्ड, दुराचारी बालक को समझाने बुझाने पर न मानने पर दण्ड के भय के द्वारा दुराचार से रोकता है, उसी प्रकार दुराचारी मन को उसकी अन्तरात्मा मृत्यु का भय दिखा कर दुराचार और विषय लोलुपता से मुक्त करता है। जब मनुष्य आध्यात्मिक चिन्तन में लग जाता है तो उसका मृत्यु का भय नष्ट हो जाता है।*

मृत्यु के भय के दो अंग होते हैं—एक मृत्यु होते समय के दुःख का भय और दूसरे स्वत्व मिट जाने का भय। पहले प्रकार का भय विषय लोलुपता और विलासिता का परिणाम है और दूसरा संग्रह की मनोवृत्ति का। तप और साहस की वृद्धि से मनुष्य पहले प्रकार के भय से मुक्त हो सकता है, पर दूसरे प्रकार के भय से इस प्रकार मुक्त नहीं होता। स्वत्व मिट जाने का भय तत्वज्ञान से मिटता है। जब मनुष्य के आन्तरिक मन में अपने आपके अमरत्व का निश्चय हो जाता है तो मृत्यु का विचार उसे भयभीत नहीं करता। आत्मा के अमरत्व का बौद्धिक निश्चय उसकी अपरोक्ष अनुभूति से भिन्न वस्तु है। कितने ही लोग बुद्धि से आस्तिक और आन्तरिक मन से

---

* इस प्रसङ्ग में निम्नलिखित वेदान्त विचार मनन योग्य है—
कल्पये त्यात्कानत्योनम्, आत्मादेवः स्वमायया। स एव बुद्धते भेदात् इति वेदान्त निश्चितः।

नास्तिक होते हैं, और कितने ही बुद्धि से नास्तिक और आन्तरिक मन से आस्तिक होते हैं। बौद्धिक नास्तिकता विचार से आती है और आन्तरिक मन की आस्तिकता क्रिया से। (जो मनुष्य अपने आप को सभी में देखता है और सदा सब के हित के लिए कार्य करता है, वह यदि बुद्धि से नास्तिक, अनात्मवादी भी हो तो भी मृत्यु के भय से भयभीत नहीं होता। वह बुद्धि से जड़वादी होकर भी क्रिया से चैतन्यवादी है। इस के प्रतिकूल स्वार्थी व्यक्तियों की मानसिक स्थिति होती है। ये ईश्वर की भक्ति और भजन करके भी मृत्यु के भय से मुक्त नहीं होते उनका आत्मा के अमरत्व का विचार समय आने पर उनके काम नहीं आता।)

प्रेम और प्राणीमात्र की सेवा भाव की वृद्धि मृत्यु के भय के विनाशक हैं। जो व्यक्ति जितना ही अधिक दूसरे लोगों से प्रेम करता है और जिसे दूसरे लोग जितना अधिक प्रेम करते हैं, उस के मन में मृत्यु का भय उतना ही कम आता है। जो व्यक्ति दूसरों से शत्रुता रखता है और जिसे दूसरे लोग शत्रुरूप देखते हैं, उसके मन में अनेक प्रकार के अभद्र विचार अनायास आते हैं। ऐसे ही मनुष्य के मन में मृत्यु का भय भी अनायास त्पन्न होता है। इस भय का प्रतिकार प्रेम की वृद्धि से किया जा सकता है।

जो मनुष्य जिस बात से डरता है वह उस के सिर अवश्य पड़ती है। भय मनुष्य के मन को कमजोर कर देता है। जब भय की अवस्था में किसी प्रकार की बीमारी मनुष्य को पकड़ लेती है तो उससे मुक्त होना उसे कठिन होता है। डर से न केवल मनुष्य को मानसिक दुर्बलता आती है वरन् उसे अनेक प्रकार की शारीरिक कमजोरी भी हो जाती है, जिसके कारण

शरीर में रोग को प्रवेश करना सरल हो जाता है। भय मन को बलवान बनाने से नष्ट होता है। मन प्रेम और त्याग भाव की वृद्धि से बलवान होता है। जो मनुष्य किसी अकारण भय से भयभीत हैं, वे यदि अपने धन का मोह छोड़कर अलग हो जायँ और अपने आप को प्राणी मात्र की सेवा में लगा दें तो उनके अकारण भय शीघ्र ही नष्ट हो जायँ।

दूसरों की सेवा मनुष्य के हृदय में प्रेम के भावों का संचार करती है। इससे उस के मन की दुर्बलता नष्ट हो जाती है। इस दुर्बलता के नष्ट हो जाने पर मनुष्य अनेक प्रकार के दुर्भावों और अभद्र कल्पनाओं से मुक्त हो जाता है। हमारा आन्तरिक मन का समष्टि के मन से ऐक्य है। जैसा दूसरे लोग हमारे बारे में विचार करते हैं वैसा ही विचार हम अपने बारे में करने लगते हैं। यदि हमारे सम्पर्क में आने वाले लोग चाहते हैं कि हम जीवित रहें तो हमारे मन में अशुभ विचार नहीं आते और यदि वे अपने आन्तरिक मन से हमारा विनाश चाहते हैं तो हमारी इच्छा के प्रतिकूल भी हमारे मन में आत्म-विनाश के विचार तथा भय उत्पन्न होने लगते हैं। स्वार्थी मनुष्य कुछ काल में ही सभी लोगों से बुरा हो जाता है। वे उसका विनाश चाहने लगते हैं। उनके इस प्रकार के विचार स्वार्थी मनुष्य के आन्तरिक मन में प्रवेश कर जाते हैं और वह भी अपनी मृत्यु की इच्छा करने लगता है। यह इच्छा उसे अज्ञात रहती है; जब यह चेतना की सतह पर आती है तो मृत्यु के भय के रूप में प्रकाशित होती है। जब मनुष्य अपना स्वार्थीपना छोड़ देता है और सांसारिक वैभव के मोह से मुक्त हो जाता है तो उसका विनाश चाहनेवालों की संख्या भी कम हो जाती है। इससे उस के आन्तरिक विचारों में परिवर्तन हो जाता है और

उस के अकारण भय नष्ट हो जाते हैं। इस तरह संसार की अनित्यता पर विचार करनेवाला व्यक्ति दीर्घजीवी हो जाता है।

जिन लोगों मो बार बार मृत्यु के विचार आते हैं, वे जब अपनी धन-सम्पत्ति का दान करने लगते हैं तो उन के विचार बदल जाते हैं। परोपकार में लगे हुए व्यक्ति को मृत्यु के विचार आते ही नहीं। मृत्यु का डर उसी व्यक्ति को अधिक सताता है जो अपने व्यक्तिगत स्वार्थ में अपने आप को खोये हुये हैं। मृत्यु का भय उसे इस स्वार्थपरता से मुक्त करता है और परमार्थ में अपने आप को लगाने के लिए बाध्य करता है। इस प्रकार मृत्यु का भय मानव जीवन के विकास और कल्याण का हेतु है। संग्रह की मनोवृत्ति की पूरक त्याग भावना है; जब सग्रह की मनोवृत्ति नष्ट हो जाती है तो आन्तरिक त्याग भावना भी शान्त हो जाती है। इस के शान्त होने पर मृत्यु का भय नष्ट हो जाता है।

४७

शिव-भावना

सभी परिस्थितियों को अपने अनुकूल देखना, सभी व्यक्तियों में भलाई देखना, सभी भावों को दैविक भाव मानना—यह शिव-भावना का अभ्यास है। कवि, दार्शनिक और सन्त को सभी बातें कल्याण रूप और दैविक दिखाई देती है* संसार हमारी दृष्टि के अनुरूप है ; जैसी हमारी दृष्टि होती है वैसा ही हमारा संसार हो जाता है। दृष्टि भली होने से न केवल हम प्रतिकूल परिस्थितियों में अनुकूलता की खोज कर लेते हैं, वरन् उनमें वास्तविक परिवर्तन भी कर देते हैं। बाह्य संसार की घटनायें मनुष्य के विचारों के सापेक्ष होती हैं। जैसे विचार होते हैं वैसी घटनायें भी घटित होने लगती हैं। जब मनुष्य का दृष्टिकोण दूषित होता है तो उसके चारों ओर निराशा का वातावरण छा जाता है। उसे अपने मित्र भी शत्रु के रूप में दिखाई देने लगते हैं, और कल्याणकारी घटनाओं में भी वह बुराई ही देखता है। यदि कोई सन्त महात्मा उसे कोई उपदेश दे तो वह उसकी हँसी अथवा उपेक्षा करता है और ऐसे उपदेशों में किसी स्वार्थ की भावना की खोज करने की चेष्टा करता है। विचारों के बदल जाने से जिन लोगों को हम बुरा समझते हैं वे भी भले दिखाई देने लगते हैं। हमें यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि उनका विरोध हमारे लाभ के लिये था। हमारा उन के प्रति मैत्री भाव हो जाने को कारण उन के हृदय में परिवर्तन हो जाता है। यदि

शिव-भावना के अभ्यास के समय कोई व्यक्ति हमारे ऊपर आघात करे तो उस से हमारी क्षति न हो कर आघात करने वाले की ही क्षति होती है*। विनाशकारी अपना ही विनाश कर लेता है उसका आत्मा ही उसे दण्ड दे देता है। सभी लोगों का आत्मा एक ही है और वह शिवरूप है। अतएव जो व्यक्ति शिव-भाव के अभ्यास करने वाले व्यक्ति के प्रतिकूल जाता है वह अपने ही प्रतिकूल जाता है।

शिव-भावना का अभ्यास मनुष्य के मानसिक बल को बढ़ाता है और उसकी इच्छा शक्ति को दृढ़ कर देता है। मनुष्य के मनमें अनेक प्रकारके अज्ञात अंतर्द्वन्द्व चला करते हैं। कभी-कभी ये अन्तर्द्वन्द्व चिन्ता का रूप धारण कर लेते हैं, अर्थात् मनुष्य किसी वास्तविक अथवा कल्पित भावी घटना के विषय में चिन्ता करने लगता है। इन चिन्ताओं से मनुष्य की मानसिक शक्ति का अपव्यय होता है। जब उसका मन निर्बल हो जाता है वह किसी प्रकार के अभद्र विचारों का अपने मन में आना रोक नहीं सकता। ऐसे व्यक्ति के मन में अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके कारण उसकी इच्छा-शक्ति और भी निर्बल हो जाती है। इच्छा-शक्ति के निर्बल होने पर साधारण

---

*यहाँ अमेरिका के प्रसिद्ध सन्त इमरसन महाशय का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है— To the poet, to the philosopher and to the saint, all things are friendly and sacred, all efferts profitable, all days holy and all men divine.

कवि, दार्शनिक और सन्त को सभी वस्तुयें अनुकूल और पवित्र, सभी घटनायें लाभकारी, सभी दिन, शुभ और सभी मनुष्य दैविक दिखाई देते हैं।

सी समस्या मनुष्य को परेशान कर देती है। ऐसे व्यक्ति के समक्ष सदा दुःख का ही वातावरण रहता है। निर्बल इच्छा-शक्ति का व्यक्ति सभी लोगों को सन्देह की दृष्टि से देखता है। वह उनके प्रति मैत्री भाव न रख गुप्त रूप से शत्रु भाव ही रखता है। इस के कारण उसके शत्रुओं की संख्या बढ़ जाती है। जिस व्यक्ति का अपना "आप" मित्र है उसी के संसार में भी मित्र होते हैं और जिस का अपना "आप" अर्थात् आत्मा शत्रु है उसके संसार में सभी व्यक्ति शत्रु ही होते हैं। आत्मा की अनुकूलता प्राप्त कर लेने पर संसार के सभी लोग अनुकूल हो जाते हैं।

शिवभाव का अभ्यास आत्मा की अनुकूलता प्राप्त करने का अभ्यास है। इस से न केवल वे चिन्तायें शान्त हो जाती हैं जिन्हें हम जानते हैं, वरन् वे चिन्तायें भी शान्त हो जाती हैं जिनका अभी हमें ज्ञान नहीं है और जो भीतरी मन में अन्तर्द्वन्द्व के रूप में ही उपस्थित हैं। इन चिन्ताओं और अन्तर्द्वन्द्व के बन्द हो जाने पर व्यर्थ खर्च होने वाली शक्ति का संचय होने लगता है। यह शक्ति हमें अपनी समस्याओं को हल करने में सहायक होती है। चिन्ता से परेशान व्यक्ति कोई काम भली प्रकार से नहीं कर सकता। आधा काम करते ही उसे थकावट आ जाती है और उसे बीच में ही काम छोड़ देना पड़ता है, अन्यथा वह बीमार हो जाता है। ऐसे व्यक्ति से अनेक भूलें होती हैं। स्वस्थ चित्त मनुष्य ही किसी काम को भली प्रकार से कर सकता है। जिस व्यक्ति के मन में आत्म-प्रसाद नहीं वह दुःखी मन से बाध्य हो कर ही कोई काम करता है और ऐसी अवस्था में उसे अपने काम में सफलता न मिलकर विफलता ही मिलती है।

वास्तव में हमारे सामने आनेवाली कठिनाइयाँ हमारे कल्याण के लिये ही होती हैं। जिस व्यक्ति के जीवन में जितनी अधिक कठिनाइयाँ आती हैं और वह उन को पार करने की चेष्टा करता है उसकी इच्छा-शक्ति उतनी ही प्रबल होती है। जिस प्रकार अभ्यास से हमारी शारीरिक शक्तियाँ बलवान होती हैं और अनभ्यास से निर्बल हो जाती हैं, इसी प्रकार हमारी विभिन्न मानसिक शक्तियाँ तथा इच्छा शक्ति भी अभ्यास से बलवान् होती है और अनभ्यास से निर्बल हो जाती है। अभ्यास से स्मृति, कल्पना, चिन्तन-शक्ति बलवान् होती हैं, इच्छा-शक्ति भी अभ्यास से ही बली होती है। इच्छा-शक्ति का कार्य निश्चय को दृढ़ बनाना है। इच्छा-शक्ति मनुष्य को अपने निश्चय से इधर-उधर भागने नहीं देती। जो व्यक्ति अपने निश्चय पर स्थिर रहता है उसे अनेक प्रकार के संकटों का सामना करना पड़ता है। पर इस से उसका आध्यात्मिक लाभ ही होता है। ऐसे व्यक्ति के मन में अकारण भय और अभद्र कल्पनायें नहीं उठती। ऐसी इच्छा-शक्ति के व्यक्ति को वे मानसिक रोग तथा कल्पित शारीरिक रोग नहीं सताते जो निर्बल इच्छा शक्ति के व्यक्ति को सताते हैं। ऐसे व्यक्ति को भूत बाधा आदि नहीं होते। दृढ़ इच्छा-शक्ति के व्यक्ति से ये-भूत भागते हैं।

मनुष्य का लौकिक सुख उसकी बाह्य परिस्थितियों पर इतना निर्भर नहीं करता जितना उसकी आन्तरिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। कितने ही धनी घर के बालकों को पढ़ने लिखने की सभी प्रकार की सुविधायें होते हुए भी वे विद्याध्ययन नहीं कर सकते और कितने गरीब घर के बालक अपनी आजीविका कमाकर विश्वविद्यालयों की ऊँची से ऊँची कक्षा की शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं। जिस बालक को जितनी

कठिनाई से विद्या प्राप्त होती है वह उसका उतना ही अधिक सदुपयोग करता है। जिसे विद्या सरलता से प्राप्त हो जाती है वह उसकी कोई कीमत नहीं करता। उसकी विद्या उसके सुख का साधन भी नहीं होती। किसी मनुष्य का सुख जिस प्रकार उसके धन पर निर्भर नहीं करता उसी तरह वह उसकी विद्या पर भी निर्भर नहीं करता, मनुष्य का सुख उसकी इच्छा-शक्ति पर निर्भर करता है। इच्छा-शक्ति जब निर्बल रहती है तो अपने विचारों पर नियन्त्रण नहीं रहता, और फिर अनेक अभद्र विचार मनुष्य के मन को सदा सताते रहते हैं। अतएव मौलिक लाभ की दृष्टि से किसी प्रकार का कष्ट उठाना व्यर्थ नहीं जाता। जो व्यक्ति अपने उत्कर्ष के लिये जितना अधिक कष्ट उठाता है वह अपने मन को उतना ही बली बनाता है, और भावी दुःखों के विनाश की वह इस प्रकार उतनी ही अधिक तैयारी कर लेता है।

मनुष्य किसी भी अवस्था में हो शिव-भावना का अभ्यास अपने लिये कल्याणकारी होता है। शिव-भावना का अभ्यास नित्य सोते जागते करते रहने से वह आत्म-निर्देश का रूप ले लेता है। जब शिव-भावना हमारे स्वभाव का अंग बन जाती है तो किसी प्रकार का अभद्र विचार मन में उठ नहीं पाता। इससे हमारी मानसिक शक्ति दिन प्रति दिन बढ़ती जाती है। और हमारी कठिनाइयों का आकार धीरे धीरे घटते हुए दिखाई देने लगता है। जिन कठिनाइयों को हम पर्वत के समान देखते हैं वे सहज में ही पार हो जाती हैं। अपनी सभी कठिनाइयों का कल्पना में एक साथ चित्रण करने से वे भयानक दिखाई देती हैं। यदि हम कठिनाइयों के विषय में अधिक न सोच कर अपने काम में लग जायँ तो वे सरलता से ही पार

की जा सके। इसके लिये आत्म-विश्वास की आवश्यकता है। शिव-भावना का अभ्यास इस आत्म-विश्वास की वृद्धि का उपाय है।

शिव-भावना के अभ्यास से अनेक प्रकार के मानसिक रोग नष्ट हो जाते हैं। अपने आपको किसी बात के लिये न कोसना यह शिव-भावना का अभ्यास है। जिन व्यक्तियों की अभिलाषायें बड़ी बड़ी होती हैं और जो बड़े ऊँचे नैतिक आदर्शों की प्राप्ति करने की चेष्टा करते हैं उन्हें आत्म-भर्त्सना भी अधिक होती है। अभिलाषाओं के फलित न होने पर जिस प्रकार साधारण मनुष्य को आत्म-भर्त्सना का दुःख होता है, इसी प्रकार आचरण में अपने आदर्श तक न पहुँच सकने के लिये आदर्शवादी व्यक्ति को आत्म-भर्त्सना होती है। शिव-भावना का अभ्यास दोनों प्रकार की आत्म-भर्त्सना से मनुष्य को बचाता है। पहले प्रकार का व्यक्ति अपनी भौतिक हानि में किसी प्रकार का लाभ देखने लगता है और दूसरे प्रकार का व्यक्ति अपने नैतिक पतन से भी आध्यात्मिक विकास का मार्ग पा लेता है। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्म-भर्त्सना से अधिक बुरी कोई बात नहीं है। इससे मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिसके कारण उसकी इच्छा शक्ति निर्बल हो जाती है। अपने आपको किसी प्रकार की निर्बलता का निर्देश देना ही अपने आपको निर्बल बनाना है। निर्बल मन का मनुष्य न अपना लौकिक और न आध्यात्मिक कल्याण कर सकता है।

हमारे पुराणों में जो शिव की कल्पना की गई है वह आत्मा को शुभ बनाने की शक्ति की प्रतीक है। शिव के आस-पास अमंगलकारी जीव रहते हैं, पर शिव को वे अमंगल

नहीं करते। दूसरे देवता इनसे घृणा करते हैं और उनसे दूर रहने की चेष्टा करते हैं। वे भली वस्तुओं को ही अपने पास रखते हैं। इसलिये ये अमंगलकारी जीव उन्हें सताते भी हैं, पर वे शिव के भक्तों को नहीं सताते। वे शिव जी के भक्तों का कल्याण ही करते हैं।

उक्त पौराणिक कथन एक प्रकार का रूपक है। यह हमारे आन्तरिक जगत् का चित्रण मात्र है। हमारे मन में अनेक शुभ और अशुभ भाव हैं। इन शुभ और अशुभ भावों में सदा अन्तर्द्वन्द्व होता रहा है। यही अन्तर्द्वन्द्व कभी कभी मानसिक और शारीरिक रोगों का रूप धारण कर लेता है। ये सभी भाव आत्मा के भाव हैं जो शिव रूप हैं। जब मनुष्य अपने अहंकार को छोड़ कर सभी प्रकार के शुभ और अशुभ भावों से विमुख हो जाता है और आत्म-चिन्तन करने लगता है तो उसके सभी मानसिक भाव उसके अनुकूल हो जाते हैं। इन भावों के बीच का द्वन्द्व मिट जाता है। जब तक मनुष्य के मन में देवासुर संग्राम चलता रहता है उसके मन में शान्ति नहीं रहती। जब यह देवासुर संग्राम बन्द हो जाता है तभी शान्ति आती है। यह देवासुर संग्राम शिव-भावना के अभ्यास से बन्द हो जाता है। इससे मानसिक शक्ति संचित होती है और मनुष्य में नये पुरुषार्थ का उदय हो जाता है। उसके रोग और दोष नष्ट हो जाते हैं।

शिव भावना का अभ्यास आनापान सति के साथ करने से बहुत ही लाभकारी होता है। इससे मनुष्य के स्वास्थ्य में चमत्कारक परिवर्तन हो जाता है। लेखक के एक मित्र ने अपना आँख का रोग, जिसका कारण मानसिक था, इसी से नष्ट किया। दूसरे मित्र को मानसिक बेचैनी और थकावट की

बीमारी थी वह भी इसी अभ्यास से नष्ट हुई। सोते समय इस अभ्यास को करना बड़ा महत्व का है। मनुष्य जिस विचार को लेकर सोता है उसी को लेकर वह जागता भी है और सोने और जागने के सन्धिकाल में अर्थात् उसकी अचेतन अवस्था में भी उसी प्रकार के विचार उसके मन में चला करते हैं। इससे उसके भीतरी मन में परिवर्तन हो जाता है। इस परिवर्तन से भी मनुष्य के स्वास्थ्य पर और आचरण पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता है। मनुष्य जिस बात को करना अपनी शक्ति के बाहर समझता रहता है वह उसे सरल दिखाई देने लगती है। सोते-जागते शिव भावना का अभ्यास करने वाले व्यक्ति के सभी काम सहज में ही हो जाते हैं।